मेरी प्रिय कहानियां

मेरी प्रिय कहानियां / इलाचन्द्र जोशी

इलाचन्द्र जोशी की गणना
साहित्य के उन आरम्भिक मनीषी
कृतिकारों में की जाती है
जिन्होंने कहानी और उपन्यासकला को
मनोवैज्ञानिक मोड़ देकर
उसे न केवल मानव-यथार्थ के
अधिक समीप पहुंचाया
अपितु एक विशिष्ट रोचकता भी प्रदान की
उनकी रचनाओं के कथानक,
उनकी भाव-भूमि,
पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा वर्णन-शैली
सभी बेजोड़ हैं
उनकी प्रत्येक कहानी
अपने-आपमें एक छोटा-सा संसार है
और किसी विशिष्ट मानव-सत्य का
उद्घाटन करती है
ये सदा साहित्य की निधि बनी रहेंगी

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६

इलाचन्द्र जोशी

है। यहां तक कि अकहानी के ध्वजाधारी भी उसीको अपना आदि-गुरु मानते हैं। उसने कहानी की रचना-प्रक्रिया को एक बिलकुल ही नया मोड़ दिया। यहां तक कि यूरोप के फैशनपरस्त साहित्यालोचकों के आगे उसकी रचना-प्रक्रिया ही अधिक महत्त्वपूर्ण बन गई और उसकी कहानियों के कथा-तत्त्व की एकदम उपेक्षा की जाने लगी। पर यदि बारीकी से, गहराई से और तटस्थ और निरपेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो हम पाएंगे कि कथा-तत्त्व और कहानी की रोचकता चेखव की किसी भी कहानी में तनिक भी कम नहीं हुई, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली गई। पर रचना-प्रक्रिया की नई-नई पद्धतियों के विकास-क्रम की उपेक्षा करना भूल होगी। कथा-तत्त्व की रोचकता की कमी जिस किसी भी युग की कहानी में देखने में आई है वह युग श्रेष्ठ आलोचकों और अधिकारी पारखियों द्वारा कहानी-कला के ह्रास का युग माना गया है। रचना-प्रक्रिया की शैलियां तो युग-जीवन के परिवर्तन के साथ-साथ स्वतः बदलती चली जाती हैं और श्रेष्ठ और प्रतिभाशाली कथाकार युग-जीवन के अनुसार अपनी कहानी की रचना-प्रक्रिया को भी समुचित रूप से नये मोड़ देता चला जाता है। पर वह कथा-तत्त्व में ह्रास तनिक भी न आने देना चाहेगा।

उन्नीसवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शती में द्वितीय महायुद्ध तक कहानी-कला में मनोवैज्ञानिक तत्त्व का विकास प्रधान रूप से पाया जाता है। इस मनोवैज्ञानिक तत्त्व की प्रधानता का मूल कारण है युग-जीवन की जटिलता। युग-जीवन ज्यों-ज्यों जटिल से जटिलतर होता चला गया, त्यों-त्यों कथाकारों ने सहज ही यह महसूस किया कि उस जीवन से संबंधित पात्रों के जीवन के यथार्थ चित्रण के लिए एकमात्र उपाय यही है कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की विधि को अपनी रचना-प्रक्रिया में विशेष रूप से अपनाया जाए, तभी पाठक के आगे युग का आईना ऐसी सफाई से रखा जा सकेगा कि युग के विभिन्न प्रतिबिम्ब अपने सही परिप्रेक्ष्यों में उतर सकेंगे। मनोवैज्ञानिक विधि कथा-तत्त्व की रोचकता के लिए भी एक विशेष रूप से सहायक माध्यम सिद्ध होने लगी। क्योंकि कोई भी वास्तविक अर्थ में श्रेष्ठ कथाकार कथा-तत्त्व के ह्रास का पक्षपाती नहीं हो सकता, इसलिए कथा-तत्त्व जिस प्रक्रिया द्वारा अधिक से अधिक रोचक और सुग्राह्य बन सके, उसीको वह अपनाना चाहेगा।

चूंकि मनोविज्ञान सभी दृष्टियों से उपयोगी सिद्ध हुआ, इसलिए आधुनिक कथाकारों ने इसे बड़े आग्रह से अपनाना शुरू कर दिया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएं ये हैं—वह मूल कथा-तत्त्व को अधिक रोचक बनाती है, रोचक इसलिए बनाती है कि वह पात्रों की

प्रत्येक क्रिया की गति-विधि के साथ-साथ उनकी मानसिक प्रक्रिया को भी स्पष्ट करती चलती है—और बिना उस प्रक्रिया को समझे कथा-तत्त्व में कोई विशेष रोचकता नहीं आ सकती। केवल बचकानी बुद्धि वाले व्यक्ति ही घटनाचक्रों की बाहरी और ऊपरी रोचकता से प्रभावित हो सकते हैं। प्रौढ़ मस्तिष्क वाले व्यक्ति बाहर की प्रत्येक घटना के पीछे छिपे हुए 'मोटिव' (या मूल उद्देश्यगत परिचालक तत्त्व) को खोजता है और उसे न पाने पर उसके लिए सारी कहानी अर्थहीन हो जाती है। मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पाठक की दृष्टि की संकीर्णता को भी प्रसारित करती चलती है।

मेरी अधिकांश कहानियों में इसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की प्रधानता पाई जाएगी। इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की सबसे बड़ी विशेषता मैं यह मानता हूं कि वह यथार्थ की ज़मीन के ऊपर वाली कड़ी और खुरदरी काई की युग-युग में जमी हुई परतों को बड़े कायदे से छील-छीलकर उन परतों के नीचे दबी पड़ी मूलगत मानवीय संवेदनाओं को ऐसी सफाई से उद्घाटित करती है कि एक हल्की से हल्की संवेदना भी विकृत या खंडित न होकर अपने सही रूप में और ठीक परिप्रेक्ष्य में उतरकर सामने आती है। जिस प्रकार बहुत प्राचीन खंडहरों की खुदाई के सम्बन्ध में विशेषज्ञ इंजीनियर पुरानी परतों की खुदाई के लिए इस बात का ध्यान रखने पर विशेष बल देते हैं कि उत्खनन-क्रिया में एक भी प्राचीन मूर्ति या जीवाश्म (फासिल) खंडित न होने पावे और साबुत निकले; इसी प्रकार मनोविज्ञान-विशारद भी अन्तर्जगत् की खुदाई में किसी संवेदना को तनिक भी खंडित नहीं होने देता। उसकी कला की यही विशेषता है।

मेरे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पूर्णतः अपने हैं और किसी पाश्चात्त्य मनोविज्ञानवेत्ता से उधार लिए गए नहीं हैं। किसी पाश्चात्त्य कथाकार की मनोवैज्ञानिक शैली का अनुकरण भी सुधी और तटस्थ आलोचकों को मेरी कहानियों में नहीं मिलेगा। जो अनुभूत सत्य मुझे अपने चारों ओर के जीवन की यथार्थता के संपर्क में अपने से प्राप्त हुए हैं, केवल उन्हींका प्रयोग मैंने किया है।

विख्यात जर्मन कवि गेटे ने शेक्सपियर के नाटकीय पात्रों के मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की विशेषता बताते हुए कहा था कि उसके नाटकों में हम वही विशेषता पाते हैं जैसी कि एक ऐसी पारदर्शी घड़ी में पाई जा सकती है, जो घण्टे, मिनट और सेकण्ड तो अपनी सूइयों से ठीक-ठीक बताती ही है, साथ ही उसके भीतर के वे पुर्ज़े भी सुस्पष्ट दिखते रहते हैं जो उन सूइयों को परिचालित करते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहानियों या उपन्यासों की भी मैं यही विशेषता मानता हूं।

इस संकलन के लिए चुनी गई मेरी प्राय: सभी कहानियां मनोवैज्ञानिक तो हैं ही, साथ ही सुधी पाठक इस बात पर भी अवश्य ही गौर करेंगे कि मेरी यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया प्रत्येक कहानी के बदले हुए परिप्रेक्ष्य के अनुसार स्वयं ही बदलती रही है। मेरी ये कहानियां अधिकांशत: सामाजिक हैं। पर समाज के अलग-अलग स्तरों के अलग-अलग रंग होते हैं। मैंने भरसक उन रंगों की विभिन्नता को सुस्पष्ट करने का प्रयास किया है और ऐसा करने में यथार्थ के किसी भी पहलू को चित्रित करने से मैं नहीं कतराया हूं, फिर चाहे वे पहलू कैसे ही बीभत्स या आतंकोत्पादक ही क्यों न लगें।

मनोवैज्ञानिक यथार्थ की यह पहली शपथ है कि ऐसा कथाकार किसी भी सचाई की उग्रता से कभी नहीं कतरा सकता। यदि कतराता है तो वह यथार्थता अपने-आप ताश के पत्तों के मकान की तरह चरमराकर गिर पड़ती है। क्योंकि यथार्थ की यह शपथ भी है कि वह चाहे कैसा ही गंदा या नग्न क्यों न हो, उसको बिलकुल उसी रूप में, बिना तनिक भी दुराव के दिखाया जाए। डाक्टर के चीर-फाड़ वाले कमरे की आतंकप्रद नग्नता डाक्टर को अपने लक्ष्य से तनिक भी च्युत नहीं कर पाती।

मेरी इन कहानियों में आप आतंकप्रद विभीषिका (हॉरर) भी पाएंगे, यथार्थवादी रहस्यात्मकता (रियलिस्टिक-मिस्टिक एलिमेंट्स) की भी कोई कमी आपको नहीं मिलेगी और रोचकता एवं रोमांचकता तो आप भरपूर पाएंगे ही, ऐसा मेरा विश्वास है। कहानियां आपके सामने हैं, आप स्वयं पढ़कर देख लें और आंतरिक सहानुभूति से उनका लेखा-जोखा करें। मेरा यह दावा तनिक भी नहीं है कि मैं एक श्रेष्ठ कथाकार हूं, मैंने केवल अपनी रचनात्मक प्रक्रिया के एक विशेष पहलू (मनोवैज्ञानिक पहलू) पर प्रकाश डालने का प्रयत्न-भर किया है।

प्रयाग, —इलाचन्द्र जोशी

१-१-१९७०

क्र म

दुष्कर्मी

हम लोग टंडनजी के यहां बैठे हुए थे। इतवार का दिन था। दोपहर से ताश खेलते-खेलते रात हो चली थी। बाहर लगातार कई घंटों से झमाझम पानी बरस रहा था। अनुभवी सज्जनों से यह बात छिपी न होगी कि वर्षा का रविवार या तो प्रिया के संग में, या मल्लार के करुण क्रन्दन में, या ताश के खेल में ही सबसे अच्छी तरह कटता है। चूंकि हम लोगों में से अधिकांश सज्जन प्रियासंग से रहित थे और मल्लार गाने का शौक भी बहुत कम को था, इसलिए सारा दिन ताश के खेल में ही कट गया। जब रात हो गई और दो-एक सज्जन उठकर चले गए, तो टंडनजी ने ताश के दोनों पैकेट उठाकर ताक पर रख दिए; हुक्का नये सिरे से भरवाया गया; सिगेरट और पान का पन्द्रहवीं बार पुनरावर्तन हुआ। मैं टंडनजी की बगल में एक तकिये के सहारे लेटकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। तीन-चार सज्जन उठकर कुर्सियों पर बैठ गए। अब लगीं इधर-उधर की गप्पें उड़ने।

एक मंझले कद के दुबले-पतले व्यक्ति पर मैं बहुत देर से गौर कर रहा था। उसकी आयु ३०-३५ वर्ष के बीच की होगी। जब मैं दोपहर को टंडनजी के यहां पहुचा था तब वह पहले से ही उनके यहां विराजमान था, इससे पहले मैंने कभी उसे नहीं देखा था। जब लोग ताश खेलने बैठे तो वह कुर्सी पर ही बैठा रहा और वहीं पर से सिर और कमर झुकाकर यह भाव जताने लगा कि वह ताश के खेल में बड़ी दिलचस्पी ले रहा है, और केवल देखकर ही सन्तुष्ट है—खेलने का इच्छुक नहीं। दिन-भर वह उसी तरह कुर्सी पर बैठा रहा। शायद ही किसीसे उसने कोई बात की हो तथापि किसी प्रकार की थकावट, जी उकताने का कोई चिह्न मैंने उसके चेहरे पर एक क्षण के लिए भी नहीं देखा। वास्तविक या कृत्रिम मुसकान उसके चेहरे पर सब समय समान भाव से बनी हुई थी। मैं यद्यपि ताश के खेल में व्यस्त था, तथापि बीच-बीच में कनखियों से इस अपरिचित और असाधारण-से लगनेवाले व्यक्ति के हाव-भावों पर गौर करता जाता था। उसके मुख के भाव से एक ऐसी सहृदयता-भरी सरलता टपकती थी जो बहुधा साधारण, भोले-भाले आदमियों में भी पाई जाती है; पर बीच-बीच में उसकी आंखें अकारण ही

विद्युत् की तरह ऐसी तीक्ष्णता से चमक उठती थीं कि उन्हें देखकर मैं किसी विचित्र अनुभूति मे चकित हो उठता था।

ताश का खेल खतम होने पर वह अपरिचित व्यक्ति कुर्सी पर अच्छी तरह से डटकर बैठ गया, जिससे स्पष्ट था कि वह अभी जाने का विचार नहीं रखता।

दो-चार इधर-उधर की बातें होने पर चर्चा छिड़ी कि वर्तमान समय में दुष्कृतियों की संख्या जो दिन-दिन बढ़ती चली जाती है, उसका कारण क्या है। किसीने कहा कि बेकारी और साथ ही महंगाई बढ़ने के कारण लोगों की हालत खराब हो गई है और निरुपाय होकर बेकार व्यक्ति दुष्कृतियों का आश्रय लिया करते हैं। एक दूसरे सज्जन ने कहा—"बेकारी ही यदि इसका कारण होती तो केवल चोरी, डकैती, गबन या जालसाज़ी तक ही दुष्कृतियां सीमित रहतीं, पर आजकल नारी-हरण, परस्त्री-धर्षण और प्रेम-सम्बन्धी हत्याओं और आत्महत्याओं की संख्या में जो वृद्धि होती चली जाती है, इसका कारण आर्थिक संकट कदापि नहीं हो सकता। नारी-हरण कुछ अंश में बेकारी के कारण उत्पन्न सामाजिक व्याधियों में गिना जा सकता है, क्योंकि कुछ पेशेवर गुण्डे घृणित आर्थिक लाभ के लिए इस व्यवसाय में लिप्त पाए जाते हैं। पर इस प्रकार के सभी मामलों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। इसके अलावा, इस युग में हम देखते हैं कि पति और पत्नी अपनी-अपनी प्रेमिकाओं तथा प्रेमियों के जाल में इस बुरी तरह जकड़े हुए पाए जाते हैं कि एक-दूसरे की हत्या का षड्यन्त्र रचने लगते हैं। शिक्षिता महिलाओं को भी आज अपने प्रेमियों की हत्या उसी उदासीन और निरपेक्ष भाव से करते पाया जाता है, जिस भाव से वे अपने छोटे बच्चे के शरारत करने पर उसका कान ऐंठ देती हैं। अभी हाल में ही समाचार छपा था कि एक विदुषी महिला ने अपनी एक संगिनी को एकाकी पाकर दिन-दहाड़े उसका गला घोंटकर उसके गहने छीन लिए थे!" टंडनजी ने फरमाया—"वास्तव में पतिव्रत धर्म की मिट्टी इस घोर अनैतिक युग में किस कदर खराब हो गई है, यह देखकर आश्चर्य होता है। स्त्रियां अपने पतियों को विष देकर मार सकती हैं, यह बात किस्से-कहानियों को छोड़कर प्रत्यक्ष जगत् में कभी सम्भव हो सकती है, इस बात पर कुछ ही वर्ष पहले तक मैं कभी विश्वास नहीं करता था, पर आजकल अखबारों में इस प्रकार की खबरें इस साधारण रीति से छपती हैं, ठीक जैसे रुई या पाट का भाव। सनसनीखेज़ खबरें छापकर बिक्री बढ़ाना ही जिन पत्रों का उद्देश्य है वे भी इस प्रकार की खबरों को उपेक्षणीय समझते हैं, और मोटे टाइप में न छापकर साधारण टाइप में प्रकाशित करते हैं। इससे स्पष्ट है

कि समाज की नैतिक मनोवृत्ति का कैसा अव:पतन हो गया है। किसी भी दुर्नीति पर लोगों को आश्चर्य ही नहीं होता।"

यहां पर पूर्वोक्त अपरिचित व्यक्ति ने अपना सुदीर्घ मौन अकस्मात् भंग किया। टंडनजी की ओर देखकर वह बोला, "आप लोगों की बातों से यह साफ ज़ाहिर होता है कि दुष्कर्मियों को आप बेहद घृणा से देखते हैं और समाज में दुष्कर्मियों की बढ़ती देखकर बहुत दु:खित हैं। आप लोगों का यह मनोभाव अत्यन्त स्वाभाविक है। दुष्कर्म आखिर दुष्कर्म ही है। फिर भी अगर आप सब प्रकार के दुष्कर्मों को एक ही श्रेणी के भीतर समेट लें और सबका मूल कारण नैतिक मनोवृत्ति का अव:पतन समझ लें तो मैं आपकी इस बात से कदापि सहमत नहीं हो सकता। उन्नत मानसिक वृत्तियों का आवश्यकता से अधिक अनुशीलन करने के कारण भी अक्सर मनुष्य को दुष्कर्म करते देखा गया है।"

यह मन्तव्य ऐसा अद्भुत था कि मैं उठ बैठा और अत्यन्त उत्सुकता से अपरिचित व्यक्ति की ओर देखने लगा। टंडनजी और अन्यान्य सज्जन स्पष्ट ही इस उक्ति से प्रसन्न नहीं हुए थे, तथापि आश्चर्य उन्हें भी कुछ कम नहीं हो रहा था। वह अपरिचित व्यक्ति किसी भी प्रसन्नता, अप्रसन्नता अथवा आश्चर्य के प्रति कुछ भी लक्ष्य न करके आवेश में कहता चला गया—"अगर दुष्कर्म और दुष्कर्मी के प्रति हर हालत में घृणा प्रकट करना आप लोगों का सिद्धान्त है तो मैं सबसे पहले घृणा के योग्य हूं। यदि आप लोगों को समय हो तो मैं अपने जीवन की कहानी सुनाऊं, जिससे आप अच्छी तरह अनुमान लगा सकेंगे कि आदमी इच्छा न होने पर भी किस हद तक घोर अपराधी की मनोवृत्ति को अपना सकता है।"

मैंने कहा—"हम लोग बड़े शौक से सुनेंगे।" टंडनजी यद्यपि कहानी सुनने के लिए विशेष उत्सुक नहीं जान पड़ते थे, तथापि शिष्टाचार के लिहाज़ से उन्होंने भी अपनी मौलिक इच्छा प्रकट की।

अपरिचित व्यक्ति ने अपनी कहानी आरम्भ कर दी :

"अपने प्रारम्भिक जीवन में मैं कभी स्वप्न में भी इस बात की कल्पना नहीं कर सकता था कि किसी दिन मुझमें दुष्कर्मियों की मनोवृत्ति घर कर लेगी। सुन्दर, निर्मल, स्निग्ध और पवित्र विचारों की फुलझड़ियों के साथ मेरा बाल्य और कैशोर जीवन बीता था। इसमें सन्देह नहीं कि नारी के रूप की मोहिनी के आकर्षण ने मुझपर बचपन से ही अपना प्रभाव डालना शुरू कर दिया था। मैं भावुक था और मेरी सौन्दर्य-सवेदना अत्यन्त प्रबल थी। इसलिए स्त्री-सौन्दर्य की अपरूप माया का प्रतिबिम्ब फोटो के 'सैन्सिटाइज़्ड प्लेट' की तरह मेरे अनुभूतिशील अन्त:करण पर अवश्य ही पड़ना चाहिए था

ओर पड़ता था। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। पर उस प्रतिबिम्ब का किसी प्रकार का हानिकारक प्रतिफल होने के बजाय ऐसा विशुद्ध प्रकाशमय आनन्द मेरे हृदय के कण-कण में विकसित होने लगता था। जैसे हिमालय पर्वत के शुभ्र शीतल हिम पर प्रभातकालीन सूर्य की रश्मियां पड़ने से विचित्र रंगीनी छा जाती है। मैं अपने पाप-पुण्यमय जीवन की एक भी बात आप लोगों के आगे छिपाना नहीं चाहता। मैं स्पष्ट स्वीकार कर लेना चाहता हूं कि मैं जब पहले-पहल नारी-सौंदर्य के प्रति आकर्षित हुआ तब मेरी आयु केवल दस वर्ष की थी। एक दिन मैं अपने एक साथी के यहां खेलने गया हुआ था। बाहर आंगन में हम लोग चोर-मुंडौरा खेल रहे थे। हमारा जो साथी चोर बना हुआ था उसे छकाने के लिए एक बार मैं पिछवाड़े के रास्ते से ज़नाने में चला गया। उस घर की सब स्त्रियों को मैं जानता था, इसलिए बेधड़क बिना किसी संकोच के भीतर घुस गया। पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मैंने एक अद्-भुत रूपवती अपरिचित स्त्री को वहीं खड़े पाया। जिसकी आयु तब प्रायः ३० वर्ष की रही होगी। नीले रंग की बनारस की सच्ची ज़री से चमकती हुई रेशमी साड़ी पहने, सुन्दर गहनों से सुसज्जित तपाए हुए सोने की तरह गोरी उस युवती को देखते ही मैं विह्वल दृष्टि से उसकी ओर बहुत देर तक ताकता रह गया। मेरी व्याकुल उत्सुकता देखकर उसने स्निग्ध मुसकान से अत्यन्त स्नेहपूर्वक मेरे सिर पर हाथ फेरना शुरू किया और बड़ी मीठी आवाज़ में पूछा—'किसे ढूंढते हो लल्ला?' उस स्नेह-स्पर्श से मेरे रोमांचित हृदय की ठीक क्या दशा हो रही थी, मैं कह नहीं सकता, पर इतना मैं अवश्य कह सकता हूं कि वैसा मधुर, पवित्र, परमानन्दमय स्पर्श इस जीवन में मैंने फिर दूसरी बार कभी अनुभव नहीं किया और उसके मुंह से 'लल्ला' संबोधन इतना प्यारा, मधुर, आत्मीय और मोहक लगा मुझे, कि उसका वर्णन ठीक से कर पाना मेरे लिए संभव ही नहीं है। उसके मुख का शंख की तरह घुटा हुआ, चिकना, गौरवर्ण, कटीली आंखों की मौन मूर्च्छना का जो प्रभाव मुझपर पड़ा था उससे कई गुना अधिक प्रभाव उसके प्यारे संबोधन 'लल्ला' का पड़ा मुझपर। खेलना भूलकर मैं बहुत देर तक उसी अपरिचित महिला के साथ लगा रहा। जब वह अपने घर को वापस जाने लगी तब जाते समय फिर एक बार अपनी मंगल-स्नेहमय दृष्टि से मेरी ओर देखकर मेरे गालों पर अपना स्निग्ध-सरस हाथ फेरकर मुझसे कहने लगी—'चलो, हमारे घर चलोगे?' जाने की अदम्य इच्छा होने पर भी मैं नहीं गया। बिना पिताजी की आज्ञा लिए किसीके घर जाने का अधिकार नहीं हो सकता, यह संस्कार मेरे मन पर जमा हुआ था। पर वह मोहिनी रमणी प्रतिपल मेरे मनोराज्य में विचरती रही। सम्भवतः उस रात

को मैंने उसे स्वप्न में भी देखा और दूसरे दिन सुबह को आंख खुलते ही पहले-पहल उसीकी याद आई। वह कौन थी, कहां से आई थी, इस बात का पता मुझे अभी तक नहीं है, और उस दिन के अतिरिक्त फिर कभी एक दिन के लिए भी मैंने उसे नहीं देखा। पर मेरी मानसिक आंखें अभी तक (आज प्राय: पच्चीस वर्ष के बाद भी) उसे प्रत्यक्ष देखती हैं। किसी उल्काराज्य से छूटी हुई फुलझड़ी की तरह वह क्षण-मात्र के लिए अपनी अलौकिक आभा दिखाकर विलीन हो गई और अपना स्थायी चिह्न मेरे मन पर अंकित कर गई है। आप लोग विश्वास करें, या न करें पर महिला के प्रति मेरा यह तीव्र आकर्षण मूलत: यौन-भावना से ही ओत-प्रोत था। यद्यपि अपनी मां की आयु की एक महिला के प्रति एक दसवर्षीय लड़के के उस प्रशंसात्मक और विशुद्ध श्रद्धामूलक भाव में यौन-भावना की हल्की से हल्की गंध भी किसी रूप में छिपी रह सकती है, ऐसा सोचना, समझना, समझ पाना या विश्वास कर पाना भी असंभव के सिवा और क्या कहा जा सकता है? पर इतना सच है कि अपने उस विचित्र मनोभाव का गहनतम विश्लेषण करने के बाद ही मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं।

"तब से जब-जब किसी काव्य में किसी अनुपम सुन्दरी स्त्री की चर्चा आई है तो मैं अपने मन में नायिका के बदले उसी अपरिचित महिला का ध्यान करता आया हूं। शकुन्तला, कुमारसंभव की पार्वती और तुलसीदास की सीता की छवि मेरे मन में उसी एक रूप में प्रतिबिम्बित हुआ करती थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब तेरह वर्ष की आयु में तुलसीदास की रामायण में सीता-स्वयंवर का वर्णन पढ़ते-पढ़ते इस चौपाई को पढ़ने लगता—'सोह नव ल तनु सुन्दर नारी, जगत्-जननी अतुलित छवि भारी', तो मैं अपने मनश्चक्षु से उसी पूर्वोक्त महिला को जगत्-जननी सीता के रूप में देखकर अलौकिक प्रेम के हर्ष से पुलकित हो उठता था और मेरी आंखें सचमुच डबडबा आतीं। अकलुष सौंदर्य और पवित्र प्रेम की वह दिव्य स्मृति मैं कभी भूल नहीं सकता।

"इसके बाद चौदह या पन्द्रह वर्ष की अवस्था में मुझे एक दूसरी महिला का अनिर्वचीय रूप देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे एक साथी की बगल में एक बहुत बड़ा फोड़ा हो गया था। चूंकि वह एक देहाती लड़का था और स्कूल के होस्टल में रहता था और उसके घर का कोई आदमी उपस्थित नहीं था, इसलिए मैं ही उसे साथ लेकर अस्पताल चला गया। डाक्टर साहब शायद किसी काम में व्यस्त थे, इसलिए उन्होंने डाक्टरनी साहबा से (जो एक भारतीय महिला थीं और किसी कारण से उस समय वहां उपस्थित थीं) आपरेशन करने के लिए कहा। डाक्टरनी साहबा का निर्मल-स्निग्ध

हास में प्रभावित रूप ऐसा विमोहक था कि मैं उनके चरणस्पर्श के लिए लालायित हो उठा। पर मुझे आश्चर्य इस बात पर हो रहा था कि ऐसा करुण-कोमल जिनका रूप है वे कैसे चीर-फाड़ के काम में हाथ दे सकती हैं। वे मेरे मित्र को और मुझे एक अलग कमरे में ले गईं। मेरे साथी को उन्होंने एक पलंग पर चित करके लिटाया और उसकी कमीज़ उतारने के बाद मुझसे उसका हाथ मज़बूती से पकड़े रहने के लिए कहा। मैंने कठपुतली की तरह उनकी आज्ञा का पालन किया। एक चाकू लेकर वह नश्तर लगाने लगीं। मेरा साथी कराह उठा और छटपटाने की चेष्टा करने लगा। मैं उस दृश्य को सहन न कर सका और मैंने हाथ ढीला कर लिया। डाक्टरनी साहबा मेरी ओर अपनी कमान-सी तनी भौंहों से तेवर चढ़ाकर देखने लगीं और बोल उठीं—'तुम बड़े बुज़दिल हो।' हड़बड़ाकर मैंने फिर मज़बूती से अपने साथी का हाथ पकड़ा और डाक्टरनी साहबा ने बिना लेशमात्र झिझक के फोड़ा आर-पार चीर डाला। मरहम-पट्टी बांधने के बाद डाक्टरनी साहबा अपना गुरु-गंभीर रूप त्याग कर अपने स्वाभाविक मधुर स्नेह से हम लोगों की ओर मुसकराती हुई बोलीं—'घबराने की कोई बात नहीं है, अब सब ठीक हो गया है।' बड़े यत्न से मरहम-पट्टी बांधकर उन्होंने हमें छुट्टी दी।

"उस दिन मैं एक अद्भुत अनुभूति लेकर घर पहुंचा। स्नेह और निर्ममता का जो अपूर्व सम्मिश्रण मैंने उस अनुपम रूप-मोहिनी में देखा था वह निराला था। सारा हृदय एक विचित्र स्पन्दन से कंटकित हो उठा। देवी दुर्गा के महामहिम रूप की जगत्-वन्दनीय शोभा मेरी आंखों के आगे भासमान होने लगी। उस छोटी उम्र में भी मेरे मन में भक्ति का भाव जागरित हो उठा था। रामचरितमानस के पाठ से इस भाव को और भी उत्तेजना मिल चुकी थी। आप लोग हंसेंगे यदि मैं कहूं कि डाक्टरनी साहबा को मैं मन ही मन वास्तव में दुर्गाजी के बतौर मानकर भक्ति-विह्वल भाव से उनकी मूर्ति का ध्यान करने लगा था।

"लड़कपन की इन सब भावुकता-भरी बातों का उल्लेख मैंने यह दिखाने के लिए किया है कि मेरी भक्ति और श्रद्धा-भरी निष्कलंक आत्मा का झुकाव किस ओर था। स्त्री को उसके उन्नततम रूप में देखने, उसकी पूर्णतम पवित्रता पर विश्वास करने की प्रवृत्ति मेरी रग-रग में समाई हुई थी। सीता के सतीत्व के उज्ज्वलतम आदर्श की कल्पना करते हुए कितनी बार मैंने पुलकित होकर आंसू बहाए हैं, उसकी गिनती नहीं की जा सकती। गरज़ यह कि सौन्दर्य, प्रेम, पवित्रता और आनन्द की दुनिया में ही मेरा बाल्य और कैशोर जीवन बीता था।

"युवावस्था में पांव रखते ही मुझे ऐसी दुःख और शोक से भरी सांसा-

रिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा कि मेरी मानसिक क्रिया का सारा चक्र ही वदलने-सा लगा। कुछ ही समय के भीतर एक-एक करके घर के प्रायः सभी बड़े-बूढ़ों की मृत्यु के वाद मेरी बहिन को क्षय रोग ने घर दबाया। उस समय घर पर पुरुष कहने को केवल मैं ही था। दो-तीन महीने तक उसकी अक्लांत परिचर्या करने के बाद एक दिन उसे श्मशान में जला आया। जिन लोगों को अनुभव नहीं है, वे नहीं समझ सकते कि क्षय के रोगी की परिचर्या कैसी कठिन होती है। दूसरे रोगियों की सेवा-टहल से केवल शरीर ही थकित होता है, पर क्षय का रोगी सारी अन्तरात्मा को थकित और निर्जीव कर डालता है। वह जीवितावस्था में ही सारे घर में प्रेतलोक का भयावह वातावरण उत्पन्न कर देता है। खैर, एक बहिन की मृत्यु के कुछ ही समय बाद एक दूसरी विधवा बहिन को इसी रोग ने घर दबाया। दीर्घ परिश्रान्ति के बाद अन्त को उसे भी श्मशान पहुंचा आया। इसके थोड़े ही दिन बाद भाभीजी बीमार पड़ गईं—ठीक इसी बीमारी से। उफ! वह कैसी परेशानी थी। इन झंझटों के कारण मुझे लगातार दो-तीन वर्षों तक कभी एक दिन के लिए भी चैन से दम लेने की फुर्सत न मिली। भाभीजी की भी वही गति हुई जो दूसरों की हुई थी। मैं ऐसा महसूस करने लगा था कि मैं क्षय रोग के लंबे जल-मार्ग का मल्लाह हूं और मृत्यु-लोक के यात्रियों को एक-एक करके जीवन के उस पार पहुंचाता चला जाता हूं। अपने चारों ओर के वायुमंडल में मैं मृत्यु का धुंधला पट छाया हुआ देखने लगा; प्रत्येक प्राणी मुझे क्षय रोग से छीजता हुआ और प्रेत रूप धारण करता हुआ जान पड़ता था। सर्वत्र अतल विषाद से आच्छन्न मृत्यु का अटल राज्य मुझे दिखाई देता था।

"स्त्री के सौन्दर्य में लेश-मात्र भी आकर्षण मेरे लिए जवानी में नहीं रह गया था। किसी रूपवती रमणी पर जब मेरी दृष्टि पड़ती तो मेरी अन्तरात्मा तत्काल सचेत होकर मुझे सावधान करते हुए मानो कहने लगती—इस रूप के भीतर क्षय के कीटाणु भरे हैं जो समय पाते ही इसे प्रेत बनाकर छोड़ेंगे। और उसी दम उस मोहिनी महिला का प्रेत रूप मेरी मानसिक आंखों के आगे नाचने लगता। मेरी मानसिक भावधारा में ऐसा अद्भुत परिवर्तन हो गया कि मैं घोर तामसिक अवसाद से ग्रस्त होकर मानो सचमुच प्रेत-लोक में विचरण करने लगा और उसीमें एक प्रकार के विकृत आनन्द का अनुभव करने लगा। किसीकी सन्निकट मृत्यु का समाचार पाते ही मेरी खिन्न आत्मा उल्लसित हो उठती, और आप लोग मेरी इस बात पर विश्वास कीजिए कि बारातों में सम्मिलित होने पर मेरे मन में वर्णनातीत उदासी छा जाती थी, पर किसीकी शवयात्रा के अवसर पर मेरे रोम-रोम में ऐसा उत्साह समा जाता था, ऐसी चेतना जाग पड़ती थी कि मुझे उसका ख्याल करके स्वयं आश्चर्य होता था।

श्मशान में जाकर चिता बनाने में मैं सबसे ज़्यादा मुस्तैदी से काम करता था और आग लगाए जाने पर अत्यन्त क्षुब्ध दृष्टि से मृत व्यक्ति को जलते हुए देखना, और देख-देखकर मेरे हर्ष का पारावार न रहना। मस्तिष्क का गूदा अथवा हाथ-पांव की चर्बी अथवा हृदय का रक्त जलने पर जब-जब चटखने की आवाज़ होती तब-तब मेरे हृदय में आनन्द का विस्फोट-सा होता। अगर रात का समय होता तो अन्धकार में निर्धूम चिताग्नि की लपलपाती हुई लपटों का प्रज्ज्वलित प्रकाश देखकर जो उद्दीप्त उल्लास मेरे अणु-अणु में व्याप्त हो जाता था उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। उस आनन्द के आगे मुझे ब्रह्मानन्द भी तुच्छ जंचता था। मेरे हृदय की ऐसी विचित्र दशा हो गई कि शहर में मेरा परिचित अथवा अर्द्ध-परिचित कोई भी व्यक्ति जब कभी किसी भी समय मरता तो मैं सब काम छोड़कर उसकी शव-यात्रा में जाकर शामिल हो जाता था। गोया किसीका मरना मेरे लिए परम उत्सव का दिन था!

"यह मानसिक स्थिति बहुत दिनों तक रही। संसार के सब लोग जीवन के नाना चक्रों में जड़ित थे, या मैं उन सबकी मृत्यु की प्रतीक्षा में बैठा था। किसी भी व्यक्ति में लेश-मात्र भी स्वास्थ्य-सम्बन्धी कोई गड़बड़ मुझे दिखाई देती, तो मैं तत्काल मन ही मन यह कल्पना करने लगता कि उसके थोड़े ही दिन शेष रह गए हैं, अब उसका बात करना, हंसना, खुशी मनाना व्यर्थ है। किसीका लड़का पैदा होता और मुझे वह दुबला-पतला नज़र आता तो मैं सोचता कि शीघ्र ही उसे क्षय रोग धर दबाएगा, और उसके मां-बाप उसे देख-देखकर व्यर्थ ही निहाल हो रहे हैं और खुशियां मना रहे हैं। गरज़ यह कि बच्चे में, बूढ़े में, स्त्री में, पुरुष में, पृथ्वी में, आकाश में, सर्वत्र मृत्यु की छाया मेरी आंखों के आगे नाच रही थी।

"मेरी इस आच्छन्न मानसिक अवस्था को एक दिन अकस्मात् ऐसा धक्का लगा कि उसमें मूलतः परिवर्तन हो गया। उस दिन एक सज्जन के यहां किसी विशेष उत्सव के अवसर पर भोज था। मुझे भी निमन्त्रण था। भोज के पहले संगीत-मंडली बैठी थी। दो-एक व्यक्तियों के गा चुकने के बाद एक प्रायः तेरह वर्ष की लड़की कुछ सज्जनों के अनुरोध से हारमोनियम के पास आकर बैठी। मैं अपने मित्रों तथा परिचित व्यक्तियों के यहां की प्रायः सभी लड़कियों को जानता था, पर इस लड़की को मैंने पहले कभी नहीं देखा था। वह दुबली-पतली थी। उसके मुख का रंग गोरा नहीं था, तथापि सांवला भी नहीं कहा जा सकता। वह बैंजनी रंग की दामी साड़ी पहने थी। साड़ी के पहनावे का ढंग बंगालियों का सा था। उसके उठने-बैठने का ढंग यथेष्ट सुघड़पन और सौष्ठव का द्योतक था। पर इन सब बातों के प्रति मेरा विशेष

ध्यान नहीं था। मैं केवल उसकी आंखों को देखकर चकित था। उज्ज्वल, विस्मित आंखों की वैसी मार्मिक तीव्रता मैंने अपने जीवन में अभी तक अन्यत्र कहीं नहीं देखी है। मैं मोहाविष्ट होकर उन्माद ग्रस्त-सा उसकी ओर देखता ही रह गया। देखते-देखते मैं ऐसा महसूस करने लगा कि मेरे हृदय के सामने युगों से कराल मृत्यु का जो निबिड़ काला पर्दा पड़ा हुआ था उसे जैसे किसीने अपने जादू के स्पर्श से आर-पार चीरकर छिन्न-भिन्न कर दिया हो। शरत्-काल की पारदर्शी नीलिमा मेरे रोम-रोम में अनंत जीवन की स्निग्ध-चेतना संचारित करने लगी। मेरी अन्तरात्मा का कण-कण प्रभातकालीन तुहिन की उज्ज्वलता से भीग गया। मैं पहले ही कह चुका हूं कि वह दुबली-पतली थी, पर उसकी आंखों की अलौकिक माया के कारण उसके शरीर की ओर मेरा ध्यान ही नहीं जाता था; ऐसा जान पड़ता था जैसे उसमें शरीरत्व का नाम नहीं है—जैसे वह ईश्वर में तरंगित होनेवाली एक अतीन्द्रिय छाया हो।

"लड़की ने हारमोनियम बजाते हुए ऐसे सधे हुए स्वर में पीलू गाना शुरू किया कि सारी सभा में स्तब्धता छा गई। उसके लचीले गले में ऐसा दर्द था कि मालूम होता था जैसे सारा वायुमंडल निखिल विरह की करुण वेदना से मन्द-मधुर रो रहा है। सारी जनता को विह्वल-विभ्रान्त करते हुए उसने और भी दो-एक गाने गाए। उस रात को जब मैं घर पहुंचा तब पलंग पर लेटकर बहुत देर तक नवीन अनुभूति से सिसक-सिसककर रोता रहा। रोने में इतना आनन्द है, यह बात मुझे पहली बार मालूम हुई। मृत्यु की अछेद्य माया भेद करके उस दिन मैं जीवन के प्रांगण में बहुत दिनों बाद पांव रखने में सफल होने पर पूर्ण प्रसन्न था।

"दूसरे दिन सुबह को मैं फिर किसी बहाने अपने मित्र के यहां गया। पिछले दिन भरी सभा में उस लड़की को देखा था, आज व्यक्तिगत रूप से उसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपने मित्र से, जिनका नाम रामेश्वर प्रसाद था, मैंने पूछा कि वह लड़की कौन है और उनसे किस प्रकार सम्बन्धित है। रामेश्वर बाबू की बात से मालूम हुआ कि वह उनके मामा की लड़की है, बनारस के किसी हाई स्कूल में पढ़ती है और अपनी भाभी (रामेश्वर बाबू की पत्नी) के विशेष अनुग्रह से छुट्टियों में उनके पास आई हुई है। मैंने फिर एक बार लड़की की ओर देखकर कहा—'गाती तो बहुत अच्छा है। आसावरी सुनाने को कहिए, मुझे सब रागिनियों में यही सबसे ज़्यादा पसन्द है।' रामेश्वर बाबू ने लड़की को संबोधित करते हुए कहा—'गा दो सरला, गौरी बाबू अनुरोध करते हैं।'

"बिना किसी आपत्ति के सरला टिमटिमाते हुए तारे की तरह विस्मित

तथापि स्निग्ध दृष्टि से एक बार मुझे घूरती हुई स्थिर-शांत पगों से नीचे बैठ गई। हारमोनियम पहले से ही वहां पर रखा हुआ था। शायद मेरे आने के पूर्व एक बार गाना हो चुका था। उस दिन भी मेरी सारी अन्तरात्मा अतृप्त भाव से उसकी निराली, तीक्ष्ण भावुकता से भरी आंखों का रस पान कर रही थी, और किसी बात की सुध मुझे नहीं थी।

"वह आसावरी गाने लगी। अपने जीवन में मैं कभी इस रागिनी को सुनकर थकित नहीं हुआ हूं। उस दिन बहुत दिनों के बाद मुझे आसावरी सुनने का अवसर मिला था। मेरे हृदय का प्रत्येक रक्तकण उसे सुनकर नाचने लगा। इसके बाद एक-आध गाना उसने और सुनाया। रामेश्वर बाबू को धन्यवाद देकर, लड़की के प्रति मूक कृतज्ञता प्रकट करके मैं भावविभोर होकर वापस चला गया। अगर कोई आदमी मेरी इस बात से यह समझ बैठे कि सरला के प्रति मेरे मन में प्रेम का भाव उत्पन्न हो गया था तो यह भयंकर भूल होगी। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेम के लक्षण करीब-करीब ऐसे ही होते हैं। पर मेरे हृदय का वास्तविक भाव प्रेम नहीं, उससे भी बढ़कर था। अपरिसीम श्रद्धा और सम्भ्रम के भाव से मेरा हृदय झुक गया था। प्रेम वहां होता है जहां दोनों पक्षों के हृद्गत भावों के परस्पर विनिमय की सम्भावना हो। पर सरला एक तो उम्र में बहुत छोटी होने के कारण संसार के अनुभवों से अपरिचित थी, दूसरे वह ऐसे उच्च समाज के गौरव-गम्भीर वातावरण में पली हुई थी कि मेरी किसी प्रकार की घनिष्ठता उसके साथ सम्भव नहीं हो सकती थी, यह बात मैं प्रथम दृष्टि में ही समझ गया था। इसलिए उसके साथ प्रेम का सम्बन्ध जोड़ने की लालसा मेरे मन में किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं हो सकती थी। तथापि जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, जो भाव मेरे मन में उसके प्रति उत्पन्न हुआ था वह प्रेम से कई गुना अधिक उन्नत और सुन्दर था।

"उस दिन के बाद मैं सरला का दर्शन करने रामेश्वर बाबू के यहां नहीं गया। पर बाद में मुझे मालूम हो गया था कि दो-तीन दिन के बाद ही वह बनारस को वापस चली गई थी। वह चली गई, पर मेरी जीवन-धारा को ही सुन्दर बना गई—केवल दो दिन के दर्शन से। संसार की रात-दिन की तुच्छता के भीतर मुझे विमल आनन्दाभास दिखाई देने लगा, रोग-शोक और मृत्यु की क्लान्त छाया विलीन होकर मेरी आंखों के आगे अनन्त जीवन की स्निग्ध ज्योति जगमगाने लगी। क्षय रोग का भूत मेरे मन से एकदम हट गया।

"तीन वर्षों तक लगातार मैं प्रायः प्रतिदिन किसी न किसी क्षण सरला का ध्यान एक बार अवश्य कर लेता, विशेष करके स्निग्ध विषाद से पीली

पड़ी हुई स्वर्ण-सन्ध्या के समय। बिना एक वार उसका ध्यान किए मेरी आत्मा में किसी प्रकार की चेतना ही जागरित नहीं होती थी। चौथे वर्ष के प्रारम्भ में मुझे खबर मिली कि सरला रामेश्वर बाबू के यहां आई हुई है। यह भी मालूम हुआ कि वह बीमार है। मैं दूसरे ही दिन रामेश्वर बाबू के यहां जा खड़ा हुआ। मैंने सोचा था कि साधारण ज्वर होगा, 'फीवर मिक्सचर' या कुनैन के सेवन से दो-एक दिन वाद ठीक हो जाएगा। पर रामेश्वर बाबू की वात सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए और सिर भिन्नाने लगा। उन्होंने कहा कि उसे टी० बी० हो गया है। टी० बी! वही क्षय रोग, जिसके आतंक से मैं बड़ी मुश्किल से त्राण पा सका था! उसी रोग ने उस लड़की को भी घर दबाया है जिसने मुझे अपने व्यक्तित्व की आध्यात्मिकता से, मृत्यु के वन्धन से मुक्त किया था। कांपती हुई आवाज़ में मैंने रामेश्वर बाबू से पूछा—'क्या मैं भीतर जाकर उसे देख सकता हूं?' रामेश्वर मुझे अपने साथ उस कमरे में ले गए जहां सरला पलंग पर चित लेटी हुई पड़ी थी। कहां गई उसकी आंखों की वह आध्यात्मिक मनोहरता! कहां गई वह विस्मृत भावुकता! हड्डियों के ढांचे के भीतर कोटरों के नीचे घुसे हुए दो प्रकाश-विन्दु उसके प्रेतमुख को और भी अधिक भयावना रूप दे रहे थे। मैं बहुत जल्दी उस कमरे से बाहर निकल आया।

"मालूम हुआ कि सरला की मां या बहिनें कोई नहीं हैं, इसलिए रामेश्वर बाबू की स्त्री ने उसकी परिचर्या का भार अपने ऊपर लिया है। उसके पिता एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी थे। कुछ दिनों बाद लम्बी छुट्टी लेकर वे भी रामेश्वर बाबू के यहां आ पहुंचे। तीन महीने तक सब लोगों ने मिलकर सरला की यथेष्ट परिचर्या की। अन्त में राम-नाम की सचाई की महिमा का नारा लगाते हुए हम लोग उसे श्मशान ले गए।

"जिस रूप ने कभी मेरे मन में चिदानन्द का आभास झलकाया था वह किस अवस्था को परिणत हो गया था, उसकी विभीपिका का ठीक-ठीक चित्र खींचना असम्भव है, इसलिए इस सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं कहूंगा। पर इस घटना से मेरे मन में फिर से मृत्यु का भूत इस प्रबलता से सवार हुआ कि अब की मेरे पागल होने की नौबत आ पहुंची—रूपक के अर्थ में नहीं, वास्तविक अर्थ में पागलपन के भय ने मुझे जकड़ लिया। मैंने सोचा कि पागल होने से आत्महत्या बेहतर है। पर चूंकि जीवन का आनन्द एक बार किसी अंश में पा चुका था, इसलिए अब आत्महत्या के लिए पूरा साहस नहीं होता था।

"विभीषिकामय विचारों के पारस्परिक संघर्ष ने मेरी मानसिक

अवस्था को अत्यन्त विकृत बना डाला। मृत्यु के चिरान्धकारमय काल-रूप ने मुझे इस कदर परेशान कर दिया था कि किसी भी उपाय से मैं उससे मुक्ति पाना चाहता था। मैंने देखा कि घोर पाप में डूबकर भी यदि जीवन का आभास किसी अंश में मिल जाए (चाहे वह कैसे ही विकृत रूप में क्यों न हो) उसको हर तरह अपनाना चाहिए।

"अन्त में मेरे परिपूर्ण पतन का चरम अवसर आ ही पहुंचा। एक तंग गली के भीतर जिस मकान में मैं रहता था उसके सामने वाले मकान में एक पन्द्रह-सोलह वर्ष की लड़की नित्य अपने छज्जे से मुझे नाना चंचल हाव-भाव दिखाया करती थी। पहले मैं उसकी ओर दृष्टि पड़ते ही घृणा से मुंह फिरा लिया करता था। पर अब मेरे मन में पाप के कीड़े ने घुसकर मेरा दृष्टिकोण ही एकदम बदल डाला था। इसलिए मैं भी अब उसके प्रति आकर्षित होने लगा, यहां तक कि आंखों के भाव से प्रेम भी जताने लगा। उसे मेरा मनोभाव भांपने में देर न लगी। वह द्विगुण उत्साह से अपना हास-विलास व्यक्त करने लगी।

"मैंने धीरे-धीरे उस मकान के पुरुषों के साथ घनिष्ठता बढ़ानी शुरू कर दी और मेरा आना-जाना वहां बराबर जारी रहने लगा। मैं पहले ही कह चुका हूं कि मेरी 'मरता क्या न करता' की-सी मानसिक अवस्था हो रही थी। मेरे पहले जीवन का व्यक्तित्व एकदम दब चुका था और एक दूसरा ही व्यक्तित्व परिपूर्ण प्रवेग से ज़ोर बांध रहा था। जिस प्रकार 'सोम्नेवुलिज़्म'—निद्रा-विचरण—का रोगी निद्रावस्था में ही उठ खड़ा होता है और नींद की हालत में एक निश्चित 'प्लान' के अनुसार बड़े-बड़े असंभव-से कार्यों को ठीक उसी स्थिरता से करता है जिस तरह एक जगा हुआ आदमी, और जिस प्रकार जाग्रत् अवस्था में उस ढंग के कामों को करने की कल्पना ही कभी उसके मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं होती, ठीक वही दशा उस समय मेरी हो रही थी। मेरा असली व्यक्तित्व जिस प्रकार के आवरण के साहस का कयास भी कभी नहीं कर सकता, मेरा दूसरा व्यक्तित्व उस समय बलपूर्वक मुझे उसीको अन्त तक सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए उकसा रहा था। अर्थात् मैंने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि उस लड़की को जिस उपाय से भी हो, भगा ले चलूंगा। मैं नपे-तुले निश्चित पगों से इस उद्देश्य की पूर्ति की ओर आगे बढ़ता चला जाता था।

"मैं मौका देख रहा था। अन्त में एक दिन (बल्कि यह कहना ठीक होगा कि एक रात) अवसर पाकर उसे भगा ही ले गया। किस उपाय से और कैसे, यह बताने के लिए समय नहीं है और न इसकी विशेष आवश्यकता ही है। हम दोनों बनारस में एक गुप्त गली के भीतर रहने लगे। कुछ दिनों के खर्च

के लिए मेरे पास रुपया था, उसके अतिरिक्त लड़की भी अपने साथ बहुत-सा रुपया अपनी मां के सन्दूक से चुराकर लाई थी, और गहना भी उसके पास यथेष्ट था। हां, मैं यह बात कहना ही भूल गया कि लड़की बाल-विधवा थी। उसका नाम मैं नहीं बताऊंगा और न जाति ही। केवल इतना ही सूचित कर देना चाहता हूं कि वह मेरी स्वजातीया नहीं थी—अर्थात् कायस्थ कुल में उसका जन्म नहीं हुआ था। कुछ भी हो, बनारस में हम दोनों बड़े प्रेम से आनन्दपूर्वक रहने लगे। मैं इस बात पर गर्व अनुभव करने लगा कि समाज-बन्धन तोड़कर मैं एक भले घर की लड़की को अपने सतीत्व को तिलाञ्जलि देने के लिए बहकाने में समर्थ हुआ हूं और पाप के रहस्यमय संसार में गुप्त, निषिद्ध सुख प्राप्त कर रहा हूं। कभी-कभी बीच में मेरा असली व्यक्तित्व जब कुछ क्षण के लिए सचेत हो उठता था तो मैं सिहर उठता था। पर वह लड़की मुझपर पूरा भरोसा करके निश्चिन्त थी और अपने सम्पूर्ण हृदय से मुझे प्यार करके मेरे संग में परम संतुष्ट थी। मुझे पूरा विश्वास है कि हमारे उस अनुचित सम्बन्ध से उसकी आत्मा में कभी एक क्षण के लिए भी द्वन्द्व न मचा होगा। अपने मां-बाप को छोड़ने का दुःख वह लेशमात्र भी अनुभव नहीं कर रही थी। उसे प्रतिपल केवल इस बात की चिन्ता रहती थी कि मैं सुखी होकर आराम से रहूं। मेरी छोटी से छोटी आवश्यकता पर इस उत्सुकता से ध्यान देती थी कि मैं गर्व से फूला न समाता था।

"इसी तरह तीन-चार महीने बीत चले। हम दोनों पति-पत्नी के बतौर रहते थे। इसलिए पास-पड़ोस की स्त्रियों ने बिना किसी सन्देह के मेरी प्रेमिका के साथ आकर हेलमेल बढ़ाना शुरू कर दिया था। उनके पुरुषों के साथ मेरा भी परिचय हो गया था। वे लोग मुझे अक्सर भोजनादि का निमन्त्रण दिया करते थे और फलतः मुझे भी बदले में उन्हें बुलाना पड़ता था। पर्दे का पक्षपाती मैं बिलकुल नहीं था, क्योंकि मुझे अपनी योग्यता और अपने प्रति उस लड़की के प्रेम पर पूरा विश्वास था। पर वह पर्दे का संस्कार नहीं छोड़ सकती थी और मेरे मित्रों के आगे घूंघट निकाला करती थी। मैंने निश्चय कर लिया कि उसकी यह आदत छुड़ाऊंगा। धीरे-धीरे, अन्त में, मैं अपनी चेष्टा में सफल हुआ। यद्यपि उसमें संकोच का भाव वैसा ही बना हुआ था, तथापि अब वह पूछे जाने पर मेरे मित्रों की बातों का उत्तर दे देती थी।

"पहले तो मैं उससे इस बात पर नाराज़ रहता था कि वह पर्दा करती है, पर अब जब वह पर्दा तोड़ने लगी तब मेरी नीच प्रवृत्ति में संदेह का कीड़ा अपना काम करने लगा। परिचित सज्जनों में से एक विशेष व्यक्ति के प्रति उसकी घनिष्ठता बढ़ रही है, यह वहम मेरे मन में घुन की तरह पैठ गया। इस जूं ने बढ़ते-बढ़ते भैंस का रूप धारण कर लिया और मैं अत्यन्त खिन्न

हृदय में यह सोचने लगा कि अब क्या करना चाहिए; उस लड़की का प्रेमावेश अब मुझे एकदम कड़वा और विषैला जान पड़ने लगा। साथ ही मैं यह भी जानता था कि मेरे प्रति उसके प्रेम में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आई है और अब भी वह सच्चे हृदय से मुझे प्यार करती है। पर ईर्ष्या का घातक कीट जहां एक बार मस्तिष्क और मन में घुस जाता है तब अनर्थ करके ही छोड़ता है।

"मेरी बेचैनी बढ़ती गई। अन्त में जब परिस्थिति असहनीय हो उठी, तब मैंने उसे सदा के लिए त्यागकर भाग चलने का निश्चय कर लिया। उसकी प्रेम-भरी, उत्सुक और सदा भाव-गद्गद रहनेवाली आंखों की कृतज्ञ दृष्टि का स्मरण मेरी अन्तरात्मा को बार-बार पीड़ित करके मुझे अपने निश्चय से विचलित करने की चेष्टा करता था। पर मैंने अपने जी को कड़ा करने की ठान ली। आखिर एक दिन मैं उसे उस परदेश में निस्सहाय अवस्था में अकेली छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

"कुछ ही दिन बाद बनारस के एक समाचार-पत्र से मुझे मालूम हुआ कि उसने (उसका नाम भी छपा था) आत्महत्या कर ली है। इस समाचार से मेरे चित्त की जो अवस्था हुई उसका वर्णन करना अनावश्यक है। तब से पल-पल एक ही भावना—केवल उसीकी स्मृति—तिल-तिल करके मेरे हृदय को चाटती है। जिसके प्रेम को दुनिया ने और मैंने पापमय समझा था, आज एकमात्र उसीके चिन्तन से मेरा रोम-रोम व्याकुल है। मेरे प्राथमिक जीवन की सब पवित्र अनुभूतियों को डुबोकर केवल वही एक 'पाप' मेरे मनोगगन में से सारे विश्व को अपनी महिमा से आच्छन्न किए हुए है। यदि हम दोनों के उस प्रेम का अन्त इस प्रकार दुःखात्मक न होता तो शायद उसके महत्त्व से मैं कभी परिचित न हो पाता। मेरी पापात्मा को समुचित दंड ही मिला है। मैं दुष्कर्मी हूं और अवश्य आप लोगों की घृणा के योग्य हूं। फिर भी आप···पर मेरा दिमाग खराब होने लगा है। बीच-बीच में कुछ महीनों के लिए मेरा मस्तिष्क बिगड़ जाता है, और मैं घर और बाहर उपद्रव मचाने लगता हूं। पागलखाने भेजे जाने पर फिर कुछ दिनों में स्वस्थ हो उठता हूं। दो बार बरेली के पागलखाने में भरती हो चुका हूं। आज फिर पागलपन के पूर्ण लक्षण दिमाग के भीतर मालूम कर रहा हूं। इसलिए अब जाता हूं।"

यह कहकर वह रहस्यमय व्यक्ति बिना किसीका अभिवादन किए तत्काल उठकर बाहर चला गया, यद्यपि बाहर ज़ोर का पानी बरस रहा था। हम लोग एक-दूसरे का मुंह ताकते ही रह गए। टंडनजी ने जब मुझसे पूछा कि वह व्यक्ति कौन है तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। मैं यह सोचे बैठा था कि वह टंडनजी के परिचित व्यक्तियों में से कोई होगा और स्वयं टंडनजी से

उसका परिचय जानना चाहता था।

तब से फिर कभी वह व्यक्ति मुझे कहीं नहीं दिखाई दिया। किस रहस्यमय लोक से वह आया था और कहां गया, मैं कभी इस बात का पता लगाने में समर्थ न हुआ।

कापालिक

कृष्णपक्ष की रात थी। उस दिन या तो त्रयोदशी थी या चतुर्दशी। ऊपर शरद्काल के निर्मल नील आकाश में असंख्य तारे दिप्-दिप् करके जल रहे थे, नीचे सामने की ओर चिता की आग पूरे प्रवेग से धधक रही थी। लपटें हवा में जैसे पागल हो उठी थीं और कभी एक-दूसरे से लिपटने के लिए अधीर दिखाई देती थीं, कभी एक-दूसरे को धक्का देकर सबसे ऊपर उठने की होड़ में व्यस्त जान पड़ती थीं। बीच-बीच में जलती हुई लाश से चटखने का शब्द होता था और बड़े-बड़े चिनगारे पटाखे का-सा शब्द करते हुए आतिशबाजी की तरह ऊपर को उठते थे। चिता के चारों ओर का वातावरण एकदम ज्वालामय दिखाई देता था। लगता था जैसे उस प्रज्वलित प्रकाश-पुंज के परे न आकाश में, न पृथ्वी में, न स्वर्ग में, न मर्त्य में कहीं कुछ भी वर्तमान नहीं है। बाईं ओर, प्राय: आधे फरलांग की दूरी पर रेल का विराट पुल इहलोक और परलोक के बीच के सेतु की तरह अपना विस्तार फैलाए हुए था।

जो लोग शव को पहुंचाने आए थे वे चारों ओर से खुले टीन के 'शेड' के भीतर थकावट मिटाने का प्रयत्न कर रहे थे। कुछ तो पुआल बिछाकर चादर या कंबल तानकर लेट गए थे, कुछ बैठे हुए चुपचाप बीड़ी या सिगरेट फूंक रहे थे और कुछ तरह-तरह के विषयों की चर्चा चलाते हुए गप्पाष्टकी कला का पूरा रस ले रहे थे। एक ओर कोने में चार-पांच सज्जन आग के पास बैठे हुए कोई एक दिलचस्प किस्सा सुनने में तल्लीन थे। कथा सुनाने वाले महाशय किसी स्थानीय दफ्तर में क्लर्क थे। वह बता रहे थे कि किस प्रकार उन्होंने एक मुर्दे के ऊपर बैठकर तंत्रसिद्धिकरनी चाही थी, और उनकी असफलता का क्या कारण रहा। मैं भी आग से कुछ दूर हटकर उनका किस्सा सुन रहा था। इतने में 'जय कपालिनी!' कहता हुआ एक व्यक्ति ठीक मेरी बगल में आकर बैठ गया। वह अधजोगी-सा लगता था। उसके सिर के बाल बढ़े थे और जटानुमा लगते थे। कुर्ता और धोती वह साधारण गृहस्थों की तरह ही पहने था, पर एक गेरुआ चादर उसने अपने चारों ओर लपेट रखी थी। वह आते ही मुझसे सिगरेट मांगने लगा। मैंने जेब से निकालकर उसे सिगरेट दे दी और स्वयं अपने हाथ से दियासलाई जलाकर उसकी सिगरेट भी जला दी। फिर 'जय कपालिनी!' कहता हुआ वह लम्बे कश लेने लगा। तंत्र-साधन का दिल-

चस्प किस्सा उस अघजोगी के आने से कुछ क्षणों के लिए स्थगित हो गया था। श्रोताओं ने वक्ता महोदय से जब फिर आग्रह किया कि वे जहां रुके थे वहां से आगे बढ़ें, तब उन्होंने फिर कहना आरम्भ किया। किस्से की चरमावस्था तब आई जब वक्ता महाशय ने यह बताया कि बड़ी प्रतीक्षा के बाद एक दिन उन्हें नदी के किनारे पर एक लाश पड़ी मिली। उनके 'गुरु' भी उनके साथ ही थे। गुरु ने आज्ञा दी कि तत्काल लाश को उठाकर असंख्य सीप-कणों से चमकती हुई बालू के बीच में लाकर रखा जाए और उस पर बैठकर उस मंत्र का मौन जाप एकांत में ध्यानपूर्वक किया जाए जो उन्होंने अपने शिष्य को (अर्थात् वक्ता महोदय को) बताया। दोनों गुरु-चेले लाश को तट से उठाकर बालू के बीच में ले आए और उसे सीधे लिटा दिया गया।

वक्ता महाशय बोले—"तब मैं पूरे विश्वास और लगन के साथ लाश के ऊपर बैठ गया। आरम्भ में भय या ग्लानि के भाव ने मुझे अवश्य कुछ धर दबाया था, पर जब मैं एक बार जमकर बैठ गया तब मेरे मन की सारी सिकुड़न जाती रही। कुछ देर तक मैं एकान्त में गुरु के बताए हुए गुप्त मन्त्र का जाप करता रहा। सहसा मेरा ध्यान भंग हुआ। मुझे लगा कि लाश हिल रही है। मैंने आंखें खोलीं। आप लोग विश्वास नहीं करेंगे, पर मैं सच कहता हूं, मैंने अस्त होते हुए सूर्य के पीले प्रकाश में अपनी आंखों से देखा कि मुर्दे ने अपने सिर को उठाकर बाईं करवट रख दिया। मेरे रोंगटे खड़े हो आए और मैं आतंकित होकर तत्काल उठकर लाश पर से नीचे कूद पड़ा और बेतहाशा भागने लगा—किस दिशा को, इसका कोई ज्ञान उस समय मुझे नहीं था। मुझे भागते देखकर गुरुजी भी मेरे पीछे-पीछे दौड़ते हुए मेरा नाम लेकर पुकारने लगे, और मुझे दिलासा देने के लिए कहने लगे—'तुम व्यर्थ में घबरा गए हो। तनिक ठहरो तो मैं तुम्हें समझाऊं।' उनके बार-बार कहने पर मैं रुका। उन्होंने मेरे पास आकर कहा—'तुमने अपनी तंत्र-सिद्धि को स्वयं अपनी मूर्खता से ठुकरा दिया। तुम्हारे मंत्र-जाप का ही यह फल था कि मुर्दा जी उठने के लक्षण प्रकट करने लगा था। पर तुमने अपनी मूर्खता से··· मुझे अब विश्वास हो गया है कि तुम तंत्र-सिद्धि के लिए एकदम अयोग्य हो।' और इसके बाद उन्होंने मुझे धिक्कारते हुए एक लम्बा-चौड़ा व्याख्यान मुर्दों को जिलानेवाली तांत्रिक कला के सम्बन्ध में दे डाला। उनके व्याख्यान से मैं बहुत प्रभावित हुआ, पर मेरे मन पर से भय का भूत तनिक भी न हटा। उस रात मैंने बड़े भयंकर सपने देखे। दो-एक बार मैं नींद में ही ज़ोर से चिल्लाया भी जिससे मेरे घरवाले जग गए। मैं कह नहीं सकता कि गुरुजी की बातों में सचाई किस हद तक थी, पर······"

सहसा अधजोगिया वेशवाला व्यक्ति बीच ही में बोल उठा—"लाश का

हिलना कोई अलौकिक घटना नहीं है। लाश जब कभी वायु कम हो जावे या अन्य प्राकृतिक कारण से सिकुड़ने लगती है तब स्वभावतः वह अपने-आप हिल उठती है। पर तुम्हारे गुरु भी अधकचरे रहे होंगे बाबा, नहीं तो कम से कम तुम्हारे मन से भय का भूत छुड़ाना कोई कठिन काम नहीं था।"

"कैसे ?" कुछ खीझे हुए स्वर में पूर्वोक्त वक्ता महाशय ने पूछा।

"जिस उपाय से मेरे गुरु ने मेरे मन पर से भय का भूत सदा के लिए भगा दिया था।"

"वह क्या उपाय था ?" कुछ उत्सुक व्यक्ति प्रायः एकसाथ बोल उठे।

"वह एक लम्बा किस्सा है। यदि आप लोग ध्यानपूर्वक सुनने को तैयार हों तो सुना दूं।"

"अवश्य सुनाइए।"

"अच्छा तो एक सिगरेट और जला लूं। ज़रा दीजिए तो।" मेरी ओर देखकर 'बाबा' बोले।

मैंने पैकेट से एक नई सिगरेट निकालकर उन्हें दी। जली हुई सिगरेट का अन्तिम अंश बाहर की ओर फेंककर उन्होंने नई सिगरेट मुंह से लगाई। मैंने उसे जला दिया।

चिलम की तरह उसे पीते हुए बाबा ने एक बार खांसा और फिर कहना आरम्भ किया :

" मेरा जन्म काठियावाड़ के एक गांव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। मैं अपने माता-पिता की चौथी सन्तान हूं। मुझसे बड़े दो भाई और एक बहिन थी। तीनों की मृत्यु छुटपन में एक ही वर्ष के भीतर हो गई। एक भाई डबल न्यूमोनिया का शिकार हो गया, दूसरा चेचक से जाता रहा और बहिन को हैज़े की किस्म की कोई बीमारी हुई, जिससे वह दो-दिन के अन्दर चल बसी। मुझे उन तीनों की याद अच्छी तरह है। तब मेरी आयु छः साल की रही होगी। उन तीनों की मृत्यु से घर में जो हाहाकार मच गया वह कैसा भीषण रहा होगा, इसकी कल्पना आप लोग आसानी से कर सकते हैं। मेरे भोले मन के ऊपर उन दुर्घटनाओं का बड़ा ही विकट प्रभाव पड़ा। तब मृत्यु के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट ज्ञान मुझे नहीं था, पर इतना तो मैं समझ ही गया था कि एक बार मर जाने से फिर कोई लौटकर नहीं आता। मरनेवाले स्वर्ग के तारे बन जाते हैं, यह मुझे बताया गया था। मैं तब से नित्य रात में आकाश में तारों की ओर देखता रहता और बिना किसी से कुछ पूछे, स्वयं अपने ही मन से इस असम्भव खोज-बीन में लग जाता कि उन असंख्य तारों में से कौन तारे मेरे भाई-बहिन के प्रतिरूप हो सकते हैं। कुछ विशेष तारों के सम्बन्ध में यह कल्पना करने की इच्छा होती कि वे मेरे भाई-बहिन हो सकते

हैं, और अपनी उस नादान कल्पना को सत्य मानने का प्रयास करता हुआ मैं तनिक संतोष पा लेता।

"पर घर के भीतर मेरा वह 'सन्तोष' कोई काम न देता, क्योंकि मेरी मां प्रतिपल रोती-कलपती हुई मुझे उस कठोर सत्य की याद दिलाती और तब मृत्यु का एक एकान्त डरावना रूप मेरे आगे नाचने लगता। उसकी यह विकराल छाया अत्यन्त अस्पष्ट होने पर भी धीरे-धीरे मेरे मन के भीतर—बहुत गहराई में—धंसती चली जाती। फल यह हुआ कि उस काली छाया ने एक दिन मेरे सम्पूर्ण मन—बल्कि सम्पूर्ण आत्मा—को एकदम ग्रस लिया। मुझे उस छोटी अवस्था से ही विश्व-जीवन में सर्वत्र मृत्युमयी छाया के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं देता था। ऐसा लगता था जैसे मृत्यु किसी भी क्षण मुझे भी समूचा निगल सकती है। शायद इसी भय का यह फल था कि मेरे हृदय के ठीक ऊपर, पसलियों में, बड़ा तीखा दर्द होने लगा। उस दर्द को मैं एक प्रकार से पाले हुए था। मुझे लगता था कि वह दर्द, यदि किसी भी समय चला जाए तो तत्काल मेरी मृत्यु हो जाएगी। ऐसा मुझे क्यों लगता था यह मैं स्वयं नहीं जानता। कुछ समय तक मेरी यह हालत रही कि मैं कोई प्रत्यक्ष रोग न होने पर भी चौबीस घण्टों में से प्रायः बीस घण्टे लेटा ही रहता। मेरे मां-बाप, जो तीन बच्चों को एक ही साल के भीतर खो चुके थे, स्वभावतः मेरी उस स्थिति से बहुत घबरा उठे। उनकी घबराहट का कोई अच्छा प्रभाव मुझपर नहीं पड़ा। पर इतना मुझे स्पष्ट स्मरण है कि कोई अज्ञात प्रेरणा मृत्यु से लड़ने के लिए मुझमें शक्ति और साहस भरती चली जाती थी।

"कुछ समय तक वह विकट अग्नि-परीक्षा मेरे भीतर चलती रही। अन्त में मेरे मन को सांस लेने का कुछ अवकाश मिला। पिताजी मुझे घर ही पर संस्कृत की शिक्षा देते थे। प्रारम्भ में मेरी रुचि इस भाषा की ओर तनिक भी नहीं थी, पर बाद में पूरे मन से मैं उसमें दिलचस्पी लेने लगा। दो ही वर्ष के अन्दर पिताजी ने कई धार्मिक ग्रन्थ मुझे पढ़ा डाले। मैंने अपनी बुद्धि और अवस्था के अनुसार उनका अर्थ समझा। मेरी रुचि और बढ़ी और स्वयं अपने प्रयत्नों से और भी बहुत-से ग्रंथ पढ़ गया। उपनिषद्, गीता, पड्दर्शन आदि सभी विषयों के अध्ययन में मैं जुट गया। पर आश्चर्य यह था कि उनमें से किसी भी ग्रंथ का कोई प्रभाव मेरे भीतरी मन पर नहीं पड़ा। मेरी ज्ञात या अज्ञात कल्पना में चारों ओर से छाए हुए मृत्यु के काले पर्दे से मेरा त्राण करने में कोई भी दर्शनशास्त्र मेरे लिए सहायक सिद्ध नहीं हुआ। कैसे उससे छुटकारा पाया जाए, इस चिन्ता में मैं दिन-रात व्यस्त रहने लगा। पर किसी न किसी उपाय से छुटकारा पाना ही होगा, यह निश्चय जैसे मेरे अन्तर्मन ने

कर लिया था।

"फल यह हुआ कि एक दिन मैं बिना किसीसे कुछ कहे-सुने गांव छोड़कर भाग निकला। निर्मुक्त, उच्छृंखल और निर्द्वन्द्व जीवन बिताने की लालसा मेरे भीतर अत्यन्त बलवती हो उठी। पर गांव से भागने पर भी मुझे बन्धनों से मुक्ति नहीं मिली। चारों ओर मुझे नये-नये बन्धनों का जाल फैला हुआ-सा लगने लगा। समुद्र के किनारे कुछ मछुओं का आश्रय पकड़ लिया। उन्हींकी नाव में रहने लगा और उनके मछली मारने के व्यवसाय में दिलचस्पी लेने का प्रयत्न करने लगा। किसी व्यवसाय में व्यस्त रहकर मैं मृत्यु की उस काली छाया को भूलना चाहता था जो सब समय मेरे जान में या अनजान में, प्रत्यक्ष में या परोक्ष में मुझे घेरे रहती थी।

"प्रारम्भ में चुपचाप बैठा रहता और उदासीन भाव से मछुओं को मछलियां पकड़ते देखता रहता। पर उदासीनता चाहे किसी भी रूप में हो, मेरे लिए घातक सिद्ध होती थी, यह मैं पिछले अनुभवों से भी जान चुका था। इसलिए मैंने अपने पूर्व जीवन के समस्त विरोधी संस्कारों को बलपूर्वक झाड़ने का प्रयत्न करके मछली पकड़ने के कार्य में सक्रिय रूप से भाग लेने का निश्चय कर लिया। धीरे-धीरे इस पेशे में दिलचस्पी बढ़ने लगी, और एक दिन मैं पक्का मच्छीमार बन गया। ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने के कारण मैंने मांस-मछली को भोजन के रूप में कभी छुआ तक नहीं था। उसकी कल्पना भी मुझे आतंकोत्पादक लगती थी। पर अब एक तो मछुओं के साथ रहकर मछली से परहेज रखने पर अपने को भूखों मारने के बराबर था, दूसरे मछलियों को पकड़ने के सम्बन्ध में मेरे मन का विरोधी संस्कार ढह जाने से उससे संलग्न दूसरे संस्कारों की ईंटें भी ढहने लगी थीं, इसलिए धीरे-धीरे वह दिन भी आया कि मैं रोटी और चावल के साथ मछली भी खाने लगा। पहले दिन मैंने उलटी कर दी, दूसरे दिन बरबस उलटी को दबाया और तीसरे दिन स्वाभाविक रूप से मैं मछली हजम कर गया।

"प्राय: एक वर्ष तक मैं मछलीमारों के साथ रहा। उसके बाद मुझे उनका साथ भी अरुचिकर और वैचित्र्यहीन लगने लगा। फल यह हुआ कि एक दिन मैं मछुओं की ही एक नाव में बैठकर बम्बई पहुंच गया। बम्बई के विशाल नगर में मैंने अपने को निपट अकेला पाया। विश्वव्यापी मृत्यु के जो भयंकर दाढ़ बीच में कुछ समय के लिए मेरी कल्पना की ऊपरी परत के नीचे छिप गए थे, वे फिर नगर के विराट भवनों का रूप धरकर मुझे निगलने के लिए चारों ओर से आगे बढ़ने लगे। ट्रामों और मोटरों का शब्द और व्यस्त जनता का कोलाहल जैसे मृत्यु-ग्रस्त संसार का हाहाकार था। उस व्यस्त मृत्यु-लोक में मुझे कहां आश्रय मिलेगा, इस चिन्ता से मैं भयभीत हो उठा। मुझे फटेहाल

देखकर और शायद मेरे मुख पर मृत्यु की प्रत्यक्ष छाया को देखकर धर्मशालाओं के दरबानों ने भी मुझे बाहर ही से दुरदुरा दिया। विवश होकर पहली रात मैंने चौपाटी के खुले मैदान में बिताई। दो-तीन दिन मैंने इसी तरह बिता दिए। चौथे दिन दौड़-धूप और पूछताछ करने पर मुझे पता चला कि भूलेश्वर के पास एक विशेष वर्ग के साधुओं का अखाड़ा है, जहां मुफ्त में रहने और खाने का प्रबन्ध हो सकता है। मैं वहीं पहुंचा। कुछ साधू तो बड़े ही रूखे—बल्कि अशिष्ट—रूप से मेरे साथ पेश आए, पर उनमें से दो-एक, जो (जैसा कि मुझे बाद में मालूम हुआ) उन सबके नेता थे, बड़ी शिष्टता और नम्रता के साथ मिले और उन्होंने मेरे निवास और भोजन का पूरा प्रबन्ध कर दिया।

"यद्यपि उस अखाड़े के सभी साधू स्पष्ट ही लट्ठवत् मूर्ख, भोजन-भट्ट और आत्मसुखाभिलाषी थे, तथापि, न जाने क्यों, उन सबका संसर्ग मुझे प्रिय लगा। मैंने देखा कि वे सब घर के और बाहर के सभी बन्धनों से मुक्त हैं—केवल अपने पेट के बन्धन को छोड़कर। और पेट का बन्धन भी बहुत कष्टकर नहीं था—इसलिए कि उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि आराम से लेटे-लेटे पेट-भर भोजन पा जाना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। उनके उस अधिकार में विघ्न डालने वाला वास्तव में कोई था भी नहीं, क्योंकि सेठों के रुपयों से चलाए जानेवाले 'भंडारे' के प्रबन्ध से उन्हें प्रतिदिन नियमित रूप से भरपेट भोजन मिल जाता था। मैं यह भी देख रहा था कि वे लोग समस्त विश्व को तृणवत् समझते थे और दिन-भर दिल खोलकर देश के समस्त राजनीतिक नेताओं तथा सुधारकों को निर्द्वन्द्व और निर्भीक भाव से ऐसी-ऐसी विकट गालियां दिया करते थे जिन्हें सुनने पर किसी ज़माने में मैं कान बन्द कर लिया करता था। पर तब तक मुझे सभी प्रकार के अपशब्दों को सुनने की आदत पड़ चुकी थी। जो आदमी प्रतिपल महामृत्यु की कराल छाया से ग्रस्त हो और समस्त जीवन में और जगत् में एकमात्र मृत्यु को ही विजयी होता हुआ देख रहा हो, उसके लिए सभी गालियां या आशीर्वाद के वचन, और सभी गन्दे या सुघड़ शब्द समान हैं। मैंने देखा कि यदि मृत्यु पर किसीने वास्तव में विजय पाई है तो इन्हीं साधुओं ने, क्योंकि उन्हें न तो जीवन के सम्बन्ध में कोई चिन्ता है और न मृत्यु के ही सम्बन्ध में। न अधिकाधिक सुखभोग करने की कोई आकांक्षा है, न पेट-पूजा में विघ्न पड़ने के अतिरिक्त किसी दूसरे दुःख से कोई भय।

"इस अनुभूति से मेरे दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर आया और मुझ डूबते हुए को तिनके के सहारे की तरह एक संबल-सा मिला। अखाड़े के भीतर का बद्ध जीवन मुझे बहुत प्रिय लगने लगा, पर अखाड़े से बाहर एक क्षण के लिए

यदि मैं निकलता तो फिर मेरे पांवों के तले से जैसे ज़मीन ही खिसक जाती थी और फिर मैं मृत्यु के महासागर के बीच में अपने को निराधार पाता। बाहर के व्यस्त जीवन का कोलाहल जैसे समस्त जगत् के सम्मिलित हाहाकार का प्रतीक बनकर मेरे छोटे-से मन में समा जाने की उतावली प्रकट करता।

"कुछ महीने मैं उसी अखाड़े में रहा। बाद में मेरा मन वहां से भी उचटने लगा था। बाहर का कोलाहल रोकने के लिए जो दीवार मैंने अपने मन की बाहरी सीमा पर खड़ी कर दी थी वह धीरे-धीरे ढहने लगी और बाहर से मृत्युलोक का हाहाकार फिर मेरे अरक्षित मन में निरन्तर उसांसें भरने लगा। हमारे अखाड़े के एक साधू ने बद्रीनाथ की यात्रा का निश्चय किया। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह मुझे भी अपने साथ लेते चलें। वह सम्भवत: किसी साथी की तलाश में पहले ही से थे। इसलिए मेरा अनुरोध उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। एक दिन हम दोनों अखाड़े से बाहर निकल पड़े। विक्टोरिया टर्मिनस से दो-तीन स्टेशन आगे तक के दो टिकट साधू बाबा ने खरीद लिए थे। उसके बाद हम नाना उपायों से अपने को छिपाते और बचाते हुए बिना टिकट के यात्रा करते रहे। सहारनपुर में बाबा ने उतरने का निश्चय किया। बोले कि पहाड़ की कठिन यात्रा के पहले तनिक विश्राम कर लेना अच्छा है। मुझे इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी। इसलिए मैं भी उतर पड़ा।

"बाबा अपने विश्राम के लिए कोई स्थान खोजते हुए सहारनपुर ज़िले के ही भीतर एक कसबे में मुझे ले गए। वहां स्टेशन से सीधे श्मशान घाट के पास आकर ठहरे। वह एकांत वातावरण मुझे ऐसा मोहक लगा जैसे युगों से भटकता हुआ पथिक अन्त में अपने घर पहुंच पाया हो। एक छोटी-सी कुटिया के सामने धूनी जलाकर मनुष्य की खोपड़ियों की माला गले में लटकाए हुए, कपाल पर सिन्दूर से त्रिशूल का चिह्न अंकित किए हुए एक बाबा, जिनकी आयु प्राय: पचास साल की रही होगी, बैठे हुए थे। ज़ाहिर था कि वह औघड़ बाबा थे, पर तब औघड़ बाबाओं के सम्बन्ध में मुझे विशेष जानकारी नहीं थी। मेरे साथ वाले साधू को देखते ही औघड़ बाबा अत्यन्त गुरु-गम्भीर स्वर में बोल उठे—'जय मुंडमाली!' साधू बाबा ने भी उन्हीं शब्दों को दुहराकर उनका प्रत्यभिवादन किया।

"तीसरा पहर प्राय: बीतने को था। शीतकाल की सांझ, नदी का एकांत तट, श्मशान घाट और औघड़ बाबा की वह कुटिया—सारा दृश्य मुझे अनोखा, और अपने अनोखेपन के कारण ही प्रिय लग रहा था। पर साथ ही एक अवर्णनीय, भेद-भरी अनुभूति से मेरे भीतर कंपकंपी भी दौड़ रही थी। विशेषकर औघड़ बाबा के कपाल का त्रिशूल-चिह्न और उनकी बगल में रखा हुआ सचमुच का त्रिशूल मेरे भीतर एक अजीब-सी बेचैनी उत्पन्न कर

रहा था।

"मेरे साथी साधू बाबा की धूनी के पास बैठ गए और मुझे भी उन्होंने नीचे मिट्टी पर ही आसन जमाने का संकेत किया। औघड़ बाबा ने चिलम में गांजे की पत्तियां भरकर साधू बाबा की ओर बढ़ाई कि' वह चिमटे से उसमें कोयले के जलते हुए कण रख दें; और बोले—'यह मूरत कौन है?' उन्होंने यद्यपि बड़े प्रेम से पूछा था, पर आवाज़ से ऐसा लगता था जैसे कच्चा ही खा डालना चाहते हों।

"साधू बाबा ने उत्तर दिया—'यह मेरे शिष्य हैं। बम्बई से हम दोनों साथ ही आए हैं।'

"'तो इन्हें कुछ खिलाओ। गाड़ी में तो कुछ खाया न होगा।'

"साधू बाबा मुस्कराते हुए मेरी ओर ताकने लगे, क्योंकि उनके झोले में स्वयं कुछ नहीं था।

"औघड़ बाबा ने मुझसे पूछा—'रस-वस कुछ पीते हो कि नहीं?'

"'काहे का रस?'

"'कपालिनी का चरणामृत, और काहे का रस हमारे यहां रहेगा?'

"कुछ न समझते हुए मैंने कहा—'क्यों नहीं पीऊंगा?'

"नर-कंकाल के मुंड के बने एक खप्पर में रक्त के रंग का लाल तरल पदार्थ ढालकर औघड़ बाबा ने मेरी ओर बढ़ाया और बोले—'जय मुंडमाली! कहकर यह 'कारण' पान करो! भूख और थकावट शान्त हो जाएगी।'

"मैं हिचका, मेरे साथ के साधू बाबा बोले—'एक घूंट पी लो। क्या हर्ज है।'

"मैंने सोचा कि अधिक से अधिक वह शराब हो सकती है। मेरे समान सभी गार्हस्थिक और सांसारिक बन्धनों से मुक्त व्यक्ति के लिए शराब पीने में भी क्या आपत्ति हो सकती है? पर यदि वह शराब न होकर कोई विष हो? मैंने सुन रखा था कि औघड़ बाबा किसी मनुष्य को जान से मार डालना कोई पाप नहीं मानते। मुझे उस दिन बहुत दिनों बाद फिर यह अनुभव हुआ कि मैं अभी तक मरने से इस कदर डरता हूं। मैंने साफ इन्कार कर दिया।

"औघड़ बाबा ने फिर एक बार गुरु-गम्भीर स्वर में मुझे आदेश दिया कि मैं गटक जाऊं, बोले—'यदि कारण का अपमान करोगे तो देवी भक्तों पर अप्रसन्न हो जाएंगी।'

"'कारण क्या?' मैंने पूछा।

"वही, देवी का चरणामृत और प्रसाद!' पर मैंने मौन भाव से निषेध किया। मेरे साथ के साधू बाबा ने भी यही आग्रह किया, पर मैं विचलित न

हुआ। तब साधू बाबा औघड़ बाबा के हाथ से मनुष्य की खोपड़ी का पान-पात्र लेकर स्वयं एक घूंट में सब पी गए।

"सामने एक चिता जल रही थी—बल्कि पूरी जल चुकी थी। अर्थी के साथ आए हुए लोग चिता की आग बुझा रहे थे। लकड़ी के कुछ बड़े-बड़े कुंदे पानी में बहा दिए गए। औघड़ बाबा ने आव देखा न ताव, तत्काल पानी में कूद पड़े और उन बहते हुए कुंदों को किनारे लगाने लगे। उसके बाद उन्हें एक-एक करके उठाकर धूनी के पास लाकर रखने लगे। रखते हुए बोले—'बीच में दो दिन मुर्दों का एकदम काल पड़ गया था। आज बड़ी मुश्किल से इतनी लकड़ी मिल पाई है, नहीं तो रात काटना कठिन हो जाता।'

"जब सब लकड़ियां रख चुके तब बाबा बैठकर सुस्ताने लगे और गांजे की चिलम हाथ में लेकर लम्बी कशें लेते हुए खांसने लगे। जब श्मशान यात्री वापस जाने लगे तब बाबा बोले—'जय मुंडमाली! बाबा, इधर भी कुछ देते जाओ।'

"लोग उनके नीचे बिछी हुई चादर पर पैसे डालते चले गए। उनके चले जाने पर बाबा ने गिना तो कुल साढ़े दस आने पैसे निकले। बाबा बोले—'इतने में न तो रम ही मिल सकेगा, न कच्चा मांस ही। सब साले बड़े कंजूस और नास्तिक हैं।'

"सूरज डूब गया। अंधेरा होने लगा। नदी-तट की ठंडी हवा के झोंके सारे शरीर को कंपाने लगे। मैं धूनी के पास और अधिक सिमटकर बैठ गया—चुपचाप मृत पिण्डवत्। मेरे साथ के साधू बाबा गांजे पर गांजा पीते जाते थे—सम्भवतः उससे उनकी प्यास और नींद जाती रही थी। इसलिए वह न तो भोजन के सम्बन्ध में कोई चिंता प्रकट कर रहे थे, न रात में सोने के लिए स्थान का प्रबन्ध करने की ही कोई फिक्र उन्हें थी। यह स्पष्ट था कि औघड़ बाबा की कुटिया के भीतर एक से अधिक व्यक्ति के लेटने की कोई गुंजाइश नहीं थी।

"मैं चिन्तित हो रहा था, पर बोला कुछ भी नहीं। सामने धूनी बड़े मज़े में जल रही थी। इसलिए ठंड में अकड़कर मरने का कोई डर नहीं था। मेरी निश्चितता का एक कारण यह भी था कि जो एक नया अनुभव उस वातावरण में मुझे हो रहा था, उसका पूरा रस मैं लेना चाहता था। धीरे-धीरे चारों ओर अंधेरा छा गया और केवल नदी के कल-कल, छल-छल शब्द के अतिरिक्त सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था। चांदनी रात थी। शुक्लपक्ष की सप्तमी या अष्टमी रही होगी। चन्द्रमा सफेद बादलों से ढका था, पर प्रकाश काफी था। सहसा दूर कहीं से सियार विकट शब्द में चीत्कार कर उठे। औघड़ बाबा न मालूम क्या सोचकर चौकन्ना हो गए। प्रायः दस मिनट बीते होंगे कि औघड़ बाबा उचककर खड़े हो गए और पलक मारने-भर की देर न हुई होगी कि

वह पानी में कूद पड़े। मैं भी कुतूहलवश खड़ा हो गया। अस्पष्ट प्रकाश में मैंने देखा कि बाबा किसी जीव से जैसे जूझ रहे हैं। 'कहीं वह घड़ियाल तो नहीं है?' मैंने भयभीत होकर अपने मन में सोचा। साधू बाबा निश्चिन्त भाव से गांजे की एक नई चिलम चढ़ाए हुए थे। मैंने डरते हुए उनसे पूछा—'औघड़ बाबा किससे जूझ रहे हैं?'

" 'होगी कोई लहास-वहास?' अत्यन्त उदासीन भाव से बाबा ने उत्तर दिया।

" लाश? सुनकर क्षण-भर के लिए मैं सन्न रह गया। मुझे याद आया कि औघड़ बाबा लोग नर-मांस भक्षण भी किया करते हैं। इसके बाद मैंने मारे भय के कोई प्रश्न नहीं किया।

" थोड़ी देर बाद क्या देखता हूं कि औघड़ बाबा वास्तव में एक लाश को दोनों हाथों से ढकेलते हुए किनारे की ओर लिए चले आ रहे हैं। मैं सन्न खड़ा था, जैसे काठ मार गया हो। हालांकि मेरा दायां पांव बरबस थरथर कांप रहा था।

" लाश को किनारे पर लगाकर बाबा उसे घसीटकर धूनी के पास ले आए। उसके बाद उन्होंने भीतर से एक छुरा लेकर लाश की दाहिनी टांग बड़ी सफाई से काटकर चीर डाली—ठीक जिस प्रकार कसाई बकरे की टांग चीरता है। कटी हुई टांग को उन्होंने धूनी के ऊपर भूनने के लिए रख दिया। मैं सोच रहा था कि साधू बाबा यह दृश्य देखकर अब की अवश्य ही चकित होंगे, पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। वह उसी उदासीन भाव से चुपचाप गांजा पीते चले गए। मैं बहुत देर से खड़ा था और धूनी के पास बैठने का साहस ही मुझे नहीं होता था। साधू बाबा का ध्यान जब मेरी ओर गया तब वह बोले—'खड़े क्यों हो, बैठते क्यों नहीं?'

" औघड़ बाबा भी मुख पर अपूर्व प्रसन्नता का भाव झलकाते हुए बोले—'अब चिन्ता क्या है, बैठो! अब तो कपालिनी की कृपा से अचानक कहीं से प्रसाद आकर किनारे लगा है। आज बहुत दिनों बाद देवी को भोग लगाने की सुविधा हो पाई है। बैठो, तुम बड़े भाग्यशाली हो।'

" मैं बैठता क्या! मेरे सारे शरीर का एक-एक रोआं सूई की तरह खड़ा हो गया था। तिसपर नर-मांस के भूने जाने की जो उत्कट गन्ध आ रही थी, वह अत्यन्त असहनीय थी। मैं कुछ दूर पीछे हटकर खड़ा हो गया।

" इस बार साधू बाबा कुछ खीझ-भरे स्वर में बोले—'क्या पागल हुए हो? कब तक सर्दी में खड़े रहोगे? आओ, बैठो धूनी के पास!'

" मैं जाकर बैठना चाहता था, पर पांव नहीं सरक रहे थे। साधू बाबा स्वयं उठ खड़े हुए। बलपूर्वक मेरा हाथ पकड़ मुझे खींच ले गए और एक झटके

से उन्होंने मुझे नीचे बिठा दिया। मैं लाचार होकर कपड़े से अपनी नाक बन्द किए बलि के बकरे की तरह बैठा रहा।

"औघड़ बाबा ने एक बोतल से फिर एक बार दो खोपड़ियों में लाल 'रस' डाला। एक खोपड़ी साधू की ओर बढ़ाई और दूसरी फिर एक बार मेरी ओर बढ़ाते हुए बोले—'लो, इसमें सब रात कट जाएगी। बड़ी सर्दी है।'

"साधू बाबा भी बोले—'ले लो! अब अधिक नांह-नूंह इसमें न करो।'

"पल-भर में न जाने मेरे मस्तिष्क के भीतर क्या बिजली झलकी। शायद उस असाधारण वातावरण का ही वह प्रभाव रहा हो। मैंने तत्काल हाथ बढ़ा दिया और खोपड़ी अपने मुंह से लगा ली।

"'जय मुंडमाली!' औघड़ बाबा परम प्रसन्न होकर बोल उठे। 'तनिक जल भी इसमें मिला लो। तुम शायद पहले से आदी नहीं हो।' यह कहकर उन्होंने अपने कमंडलु से थोड़ा-सा पानी मेरे हाथवाली खोपड़ी में डाल दिया।

"'अब थोड़ा-थोड़ा करके पीते जाओ। एकसाथ न गटकना।'

"मैं उन्हींकी आज्ञा का पालन करने लगा। औघड़ बाबा ने एक दूसरी खोपड़ी में अपने लिए भी 'रस' ढाला और साधू बाबा की तरह ही एक ही घूंट में गटक गए।

"मैं धीरे-धीरे पी रहा था। दो-तीन घूंट पी चुकने के बाद मुझे अपने खिन्न और उदास मन के भीतर एक अजीब-सी स्फूर्ति का अनुभव होने लगा, और मन-मस्तिष्क ऐसी दुनिया को पहुंच गए जहां से किसी भी असाधारण अथवा अलौकिक घटना से भी आश्चर्य होने का कोई कारण नहीं रह जाता।

"टांग धूनी पर चट-चट शब्द करने लगी थी। औघड़ बाबा उसे बार-बार उलटते-पलटते चले जा रहे थे। कुछ देर बाद उन्होंने उसे धूनी पर से उतारकर नीचे मिट्टी पर ठण्डा होने के लिए रख दिया। भीतर से एक कुल्हिया उठा लाए। उसमें नमक और मिर्च पिसा हुआ रखा था। छुरे से बड़े-बड़े टुकड़े भुनी हुई टांग से काट-काटकर वह उदार भाव से हम लोगों की ओर फेंकने लगे और एक-एक पत्ते में नमक-मिर्च देकर बोले—'भोग लगाओ।' धूनी के उज्ज्वल प्रकाश में सहसा मेरी दृष्टि सामने एक आले पर खड़े महाकाल और महाकाली की संश्लिष्ट मूर्ति पर पड़ी जिसपर गाढ़ा सिन्दूर पुता हुआ था। उस मूर्ति को देखकर मेरे मन की रही-सही हिचक भी साफ होने लगी।

"मुझे आश्चर्य इस बात पर हो रहा था कि अभी कुछ ही समय पहले तक जिस उत्कट अरुचि की भावना से मेरा सारा तन-मन सिकुड़ गया था,

वह लाल 'रस' की दो-एक घूंटें पीते ही न जाने कपूर की तरह कहां विलीन हो गई थीं। पर यह सब होने पर भी 'भोग' लगाने का साहस मुझे तनिक भी नहीं हुआ।

" पर मैंने चकित होकर देखा, साधू बाबा परम तृप्ति से भुने हुए टुकड़े को नमक के साथ मिलाकर भोग लगा रहे हैं। बम्बई में उनके इस रूप का तनिक भी आभास मुझे नहीं मिला था।

" जब साधू बाबा काफी भोग लगा चुके तब अत्यन्त गम्भीर भाव से बोले—'मैं जानता हूं तुम्हारी हिचक कहां पर है। पर एक बात मैं आज अन्तिम रूप से तुम्हें बता देना चाहता हूं। तुम्हें याद होगा, तुमने एक दिन मुझसे अपने मन के भय और सब समय अपने मन के चारों ओर मंडराने वाली मृत्यु की छाया का ज़िक्र किया था, और यह भी बताया था कि उसी छाया से मुक्ति पाने के उद्देश्य से तुम घर से भाग निकले थे और इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे हो। याद रखो कि आज तुम्हें जो सुअवसर मिला है, उसका पूरा लाभ यदि तुम उठा सको तो चिरकाल के लिए तुम मृत्यु की छाप से छुटकारा पा जाओगे, और मौत के ऊपर सदा के लिए विजय पा जाओगे। और यदि आज चूक गए तो यह छाया फिर तुम्हारी मृत्यु के बाद भी छूट पाएगी या नहीं, इसमें सन्देह है। तो एक बार एकांत मन से, ध्यानपूर्वक इस बात पर विचार करो कि तुम्हारे भीतर के भय का मूल कारण क्या है? तुमने मुझे बताया था कि एक ही साल के भीतर ही तुम्हारे दो भाइयों और एक बहिन की मृत्यु हो गई थी और उस घटना का बड़ा ज़बर्दस्त प्रभाव तुमपर पड़ा था। अर्थात् मृत मनुष्यों ने तुम्हारे प्राणों के भीतर आतंक की भावना भर दी। यदि तुम्हें यह विश्वास हो जाए कि मनुष्य की मृत्यु एक अत्यन्त साधारण घटना है और मृत मनुष्य में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं रह जाती जो वास्तव में भय उपजाने में समर्थ हो, तो तुम्हारे मन से भय का भूत सदा के लिए भाग जाए। इसी विश्वास के साथ तुम इस मरे हुए मनुष्य का जो यह मिट्टी का शरीर है, वह जब रुचिकर भोजन के रूप में तुम्हारे पेट के भीतर चला जाएगा, तब तुम निश्चित रूप से मृत्यु पर विजय पा जाओगे—अर्थात् तब मृत्यु तुम्हारे भोजन की, तुम्हारे प्राण-धारण की—एक साधारण सामग्री के अतिरिक्त और कुछ न रह जाएगी। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' इस परम तथ्य से तब तुम भली भांति परिचित होकर मृत्युंजयी कपाली के साथ एकांत होकर विचरने लगोगे।'

" मैं इसके पहले स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं कर सकता था कि मेरे साथी भोले-भाले साधू बाबा इस प्रकार का मार्मिक रूप से प्रभावोत्पादक भाषण देने में समर्थ होंगे। और किसी दूसरे अवसर पर शायद इस भाषण का कोई विशेष प्रभाव मेरे मन पर न पड़ता, पर श्मशान की उस एकान्त रात्रि

में और उस विशेष वातावरण और विशेष ही मानसिक अवस्था में, उनका एक-एक वाक्य जैसे किसी अलौकिक यंत्र-बल से मेरे मन के—मेरी सारी आत्मा के—अणु-अणु में समा गया। मुझे लगा कि सचमुच मैं इतने दिनों तक अन्धा बना हुआ था और आज गुरु ने एक दिव्य अंजन से मेरी भीतरी आंखें खोल दीं। 'रस' या 'कारण' की एक घूंट और लेकर उल्लासपूर्वक 'जय कपाली!' बोलते हुए मैं भुने हुए नर-मांस का एक टुकड़ा लेकर और नमक के साथ मिलाकर परम तृप्ति से चबा-चबाकर खाने लगा। वैसा स्वाद मैंने कभी जीवन में किसी दूसरे भोजन में नहीं पाया था।

"और सबसे बड़ी बात यह है कि उस क्षण से सचमुच मेरे मन से मृत्यु के भय का भूत सदा के लिए भाग गया। तब से मैं न जाने कितने श्मशानों में निवास कर चुका हूं और कई रातें वहां अकेले बिता चुका हूं, न जाने कितनी लाशों से मांस काट-काटकर भून-भूनकर मैंने खाया है।"

हम सब लोग स्तब्ध भाव से अघजोगिया वेशवाले उस अजनबी व्यक्ति का किस्सा सुन रहे थे। उसकी कथा जब समाप्त-सी लगी तब हममें से एक व्यक्ति स्तब्धता को भंग करता हुआ प्रश्न कर उठा—"क्या अब भी आप नर-मांस खाया करते हैं?"

"अब तो मैंने छोड़ दिया है—हालांकि परहेज़ अब भी नहीं है। मुझे कभी इस बात की ग्लानि नहीं हुई—एक दिन के, बल्कि एक क्षण के लिए भी नहीं। पर अब मैंने ज्ञान के दूसरे पहलू का भी अध्ययन किया है और कपालिनी के दूसरे—अत्यन्त व्यापक और महत्—रूप का भी थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त हुआ है। मैं अब समझ गया हूं कि नरमुंडों से निर्मम रूप से खेलनेवाली कपालिनी सृष्टि और स्थिति के बीच में अपने मंगलमय, करुणामय, क्षमा और प्रेममय रूप में विश्व के कण-कण में घुली-मिली रहती है। इसीलिए उसका एक नाम भद्र-काली भी है।"

इतना कहकर अघजोगिया वेशी बाबा ने अधमुंदी आंखों से ऊपर की ओर हाथ जोड़कर यह मंत्र पढ़ा—

जयंती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी
दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोस्तुते।

और फिर सहसा वहां से उठकर चल दिए। पुल के ऊपर सामने की ओर से बड़ी-बड़ी प्रकाशमयी आंखों को चमकाती हुई रेलगाड़ी बड़े वेग से घहराती हुई चली आ रही थी—जैसे कपालिनी की ही तरह अट्टहास कर रही हो!

क्रय-विक्रय

"मैं आज अच्छी तरह जान गई हूं कि तुमने क्या सोचकर मुझसे ब्याह किया था। ब्याह के पहले तुमने जब पहले-पहल देखा था, उस दिन तुम्हारी दृष्टि में क्या भाव छिपा था, यह बात तब मेरे आगे स्पष्ट नहीं हो पाई थी। आज मैं उसका मर्म बिलकुल ठीक समझ पाई हूं। तुम अपनी आंखों से मेरी नाप-जोख कर रहे थे, मेरा वज़न ले रहे थे, और मेरा मूल्य आंक रहे थे···इस उद्देश्य से कि यह कच्चा माल पक्का होने पर बाज़ार में कितने दामों पर बिक सकेगा···" कौच के कुशन पर अपना नंगा सिर रखकर अधलेटी अवस्था में मालिनी ने कहा। उसकी भौंहों में, आंखों में, नाक के छिद्रों में और होंठों में घोर घृणा, भयंकरता, क्रूरता और दृढ़ निश्चय के मिश्रित भाव वर्तमान थे।

राजेन्द्र को अपनी पत्नी की ये बातें एकदम अप्रत्याशित-सी लगीं। वह विस्मित भाव से आंखें फाड़-फाड़कर कुछ देर तक बेवकूफों की तरह उसकी ओर देखता रह गया। जब कुछ संभला तब मुंह पर भय और क्रोध से पूर्ण एक अत्यन्त विकृत भाव झलकाता हुआ बोला, "क्या कहा ? मैंने तुम्हें बेचने के लिए तुमसे विवाह किया ? कृतघ्नता की भी एक सीमा होती है मालिनी, तुम्हारे पिता को अपनी लड़की के लिए कोई वर नहीं मिल रहा था। तुम्हारे पिता की गरीबी, अकुलीनता और तुम्हारे अशिक्षिता होने के कारण कोई तुमसे विवाह करने को तैयार नहीं हो रहा था। तुम्हारे पिता की अत्यन्त दयनीय दशा देखकर और तुम्हें एक नेक लड़की समझ मैंने तुमसे विवाह करना स्वीकार किया। विवाह करने के बाद मैं इस बात की भी पूरी कोशिश करता रहा कि तुम्हें मेरे साथ किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे। तब मेरी आर्थिक स्थिति कैसी थी, यह बात तुमसे छिपी नहीं है। मिस्टर सिंह ने ही तब मुझे नौकरी दिलवाई थी। तिस पर भी मैंने भरसक तुम्हारी किसी भी मांग की उपेक्षा नहीं की। स्वयं फटेहाल रहकर भी तुम्हें अच्छे कपड़े पहनने को दिए, स्वयं रूखा-सूखा खाकर भी तुम्हारे लिए खाने-पीने में किसी चीज़ की कमी नहीं रहने दी। दोनों जून अपने हाथ से खाना बनाकर तुम्हें खिलाया। तुम्हें भरसक घर का कोई काम नहीं करने दिया और रोज़ या तो तुम्हें सिनेमा दिखाता रहा या प्रतिष्ठित समाज के स्त्री-पुरुषों से तुम्हें मिलाता रहा। इतने निश्चित प्रमाणों के होते हुए भी तुम कह रही हो

में और उस विशेष वातावरण और विशेष ही मानसिक अवस्था में, उनका एक-एक वाक्य जैसे किसी अलौकिक यंत्र-बल से मेरे मन के—मेरी सारी आत्मा के—अणु-अणु में समा गया। मुझे लगा कि सचमुच मैं इतने दिनों तक अन्धा बना हुआ था और आज गुरु ने एक दिव्य अंजन से मेरी भीतरी आंखें खोल दीं। 'रस' या 'कारण' की एक घूंट और लेकर उल्लासपूर्वक 'जय कपाली!' बोलते हुए मैं भुने हुए नर-मांस का एक टुकड़ा लेकर और नमक के साथ मिलाकर परम तृप्ति से चबा-चबाकर खाने लगा। वैसा स्वाद मैंने कभी जीवन में किसी दूसरे भोजन में नहीं पाया था।

"और सबसे बड़ी बात यह है कि उस क्षण से सचमुच मेरे मन से मृत्यु के भय का भूत सदा के लिए भाग गया। तब से मैं न जाने कितने श्मशानों में निवास कर चुका हूं और कई रातें वहां अकेले बिता चुका हूं, न जाने कितनी लाशों से मांस काट-काटकर भून-भूनकर मैंने खाया है।"

हम सब लोग स्तब्ध भाव से अधजोगिया वेशवाले उस अजनबी व्यक्ति का किस्सा सुन रहे थे। उसकी कथा जब समाप्त-सी लगी तब हममें से एक व्यक्ति स्तब्धता को भंग करता हुआ प्रश्न कर उठा—"क्या अब भी आप नर-मांस खाया करते हैं?"

"अब तो मैंने छोड़ दिया है—हालांकि परहेज़ अब भी नहीं है। मुझे कभी इस बात की ग्लानि नहीं हुई—एक दिन के, बल्कि एक क्षण के लिए भी नहीं। पर अब मैंने ज्ञान के दूसरे पहलू का भी अध्ययन किया है और कपालिनी के दूसरे—अत्यन्त व्यापक और महत्—रूप का भी थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त हुआ है। मैं अब समझ गया हूं कि नरमुंडों से निर्मम रूप से खेलनेवाली कपालिनी सृष्टि और स्थिति के बीच में अपने मंगलमय, करुणामय, क्षमा और प्रेममय रूप में विश्व के कण-कण में घुली-मिली रहती है। इसीलिए उसका एक नाम भद्र-काली भी है।"

इतना कहकर अधजोगिया वेशी बाबा ने अधमुंदी आंखों से ऊपर की ओर हाथ जोड़कर यह मंत्र पढ़ा—

जयंती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी
दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोस्तुते।

और फिर सहसा वहां से उठकर चल दिए। पुल के ऊपर सामने की ओर से बड़ी-बड़ी प्रकाशमयी आंखों को चमकाती हुई रेलगाड़ी बड़े वेग से घहराती हुई चली आ रही थी—जैसे कपालिनी की ही तरह अट्टहास कर रही हो!

क्रय-विक्रय

"मैं आज अच्छी तरह जान गई हूं कि तुमने क्या सोचकर मुझसे ब्याह किया था। ब्याह के पहले तुमने जब पहले-पहल देखा था, उस दिन तुम्हारी दृष्टि में क्या भाव छिपा था, यह बात तब मेरे आगे स्पष्ट नहीं हो पाई थी। आज मैं उसका मर्म बिलकुल ठीक समझ पाई हूं। तुम अपनी आंखों से मेरी नाप-जोख कर रहे थे, मेरा वज़न ले रहे थे, और मेरा मूल्य आंक रहे थे···इस उद्देश्य से कि यह कच्चा माल पक्का होने पर बाज़ार में कितने दामों पर बिक सकेगा···" कौच के कुशन पर अपना नंगा सिर रखकर अधलेटी अवस्था में मालिनी ने कहा। उसकी भौंहों में, आंखों में, नाक के छिद्रों में और होंठों में घोर घृणा, भयंकरता, क्रूरता और दृढ़ निश्चय के मिश्रित भाव वर्तमान थे।

राजेन्द्र को अपनी पत्नी की ये बातें एकदम अप्रत्याशित-सी लगीं। वह विस्मित भाव से आंखें फाड़-फाड़कर कुछ देर तक बेवकूफों की तरह उसकी ओर देखता रह गया। जब कुछ संभला तब मुंह पर भय और क्रोध से पूर्ण एक अत्यन्त विकृत भाव झलकाता हुआ बोला, "क्या कहा ? मैंने तुम्हें बेचने के लिए तुमसे विवाह किया ? कृतघ्नता की भी एक सीमा होती है मालिनी, तुम्हारे पिता को अपनी लड़की के लिए कोई वर नहीं मिल रहा था। तुम्हारे पिता की गरीबी, अकुलीनता और तुम्हारे अशिक्षिता होने के कारण कोई तुमसे विवाह करने को तैयार नहीं हो रहा था। तुम्हारे पिता की अत्यन्त दयनीय दशा देखकर और तुम्हें एक नेक लड़की समझ मैंने तुमसे विवाह करना स्वीकार किया। विवाह करने के बाद मैं इस बात की भी पूरी कोशिश करता रहा कि तुम्हें मेरे साथ किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे। तब मेरी आर्थिक स्थिति कैसी थी, यह बात तुमसे छिपी नहीं है। मिस्टर सिंह ने ही तब मुझे नौकरी दिलवाई थी। तिस पर भी मैंने भरसक तुम्हारी किसी भी मांग की उपेक्षा नहीं की। स्वयं फटेहाल रहकर भी तुम्हें अच्छे कपड़े पहनने को दिए, स्वयं रूखा-सूखा खाकर भी तुम्हारे लिए खाने-पीने में किसी चीज़ की कमी नहीं रहने दी। दोनों जून अपने हाथ से खाना बनाकर तुम्हें खिलाया। तुम्हें भरसक घर का कोई काम नहीं करने दिया और रोज़ या तो तुम्हें सिनेमा दिखाता रहा या प्रतिष्ठित समाज के स्त्री-पुरुषों से तुम्हें मिलाता रहा। इतने निश्चित प्रमाणों के होते हुए भी तुम कह रही हो

कि तुम्हें बाजार में बेचना मेरा उद्देश्य था, इससे बढ़कर अकृतज्ञता की कल्पना मैं नहीं कर सकता।"

मालिनी उचककर सीधी बैठ गई और पहले की अपेक्षा अधिक उत्तेजित अवस्था में बोली, "तुमने मुझे खुश करने, मुझे आराम से रखने, मुझे 'फैशनेबल' बनाने के लिए सब कुछ किया, मैं जानती हूं; और इसी कारण तुम्हें नम्बरी धूर्त, नीच और अर्थपिशाच समझती हूं। तुम मुझे जो अच्छे कपड़े पहनाते रहे और प्रतिष्ठित समाज के स्त्री-पुरुषों —खास कर पुरुषों—से मिलाते रहे, इसका कारण क्या है? शुरुआत में यह बात भले ही मेरी समझ में न आई हो पर क्या तुम आज भी मुझे उसी तरह अन्धी समझते हो, जैसी कि मैं ब्याह के समय थी? भूलकर भी ऐसा न समझना। आज मैं तुम्हारी नस-नस पहचान गई हूं। तुम्हारे धूर्त मन के भीतर आरम्भ से ही एक गुप्त और हीन उद्देश्य छिपा हुआ था। क्या उस दिन की बात भूल गए हो, जब तुम कम्पनी बाग में शाम के झुटपुटे में मुझे मिस्टर सिंह के साथ मोटर में छोड़ स्वयं किसी काम के बहाने उतर पड़े थे? उस दिन पहली बार मुझे तुम्हारे भीतर छुपे हुए सांप की झलक दिखाई दी। तुम्हारे चले जाने के बाद कुछ देर तक तो मैं स्तब्ध बैठी रही। मेरे चारों ओर एक अजीब-सा सन्नाटा छा गया। मुझे चक्कर-सा आने लगा। मैं ऐसी अचकचा-सी गई थी कि घबराहट के कारण मेरे मुंह से एक शब्द भी न निकला। अन्तःकरण से चाहते हुए भी मैं संकोच, भय और विस्मय के मारे यह न कह पाई कि तुम यह क्या करते हो, मुझे मिस्टर सिंह के साथ अकेली छोड़कर कहां जाते हो? मैं चुपचाप मौन साधे बैठी रही और द्रौपदी की तरह मन ही मन प्रार्थना करती रही: 'भगवान, मेरी लाज रखना।' तब तक मेरा हृदय बिलकुल निष्कलंक और निष्पाप था। मैं कैसे ही हीन कुल की और अशिक्षिता क्यों न होऊं, भारतीय नारी का सहज संस्कार, पति-भक्ति की स्वाभाविक भावना, पर-पुरुष के संसर्ग से बचने की सहज प्रवृत्ति मेरे भीतर पूर्ण मात्रा में वर्तमान थी। इसलिए मिस्टर सिंह के साथ सांझ के झुटपुटे में कम्पनी बाग में मोटर के भीतर अकेली पड़ जाने से मेरी घबराहट का क्या हाल रहा होगा, इसकी कल्पना तुम आसानी से कर सकते थे, अगर तुममें मनुष्यता और पुरुषत्व का लेश भी वर्तमान होता। तुम्हारे चले जाने के बाद मिस्टर सिंह ने मीठी-मीठी बातों से शुरू कर अन्त में किस तरह की बातें कीं, इसका पूरा इतिहास मैं तुम्हें सुनाना नहीं चाहती। सिर्फ इतना जान लो कि उस दिन मेरा पतन नहीं हुआ। मैं इस कदर घबराई हुई थी कि मिस्टर सिंह को आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ। मैं सीट के एक कोने में दुबककर रास्ते-भर सिसकती रही और अन्तरात्मा से तुम्हें कोसती रही। जब उन्होंने मुझे

घर पहुंचाया तो तुम्हें याद होगा कि मैं तुमसे एक शब्द भी नहीं बोली थी। सीधे अपने पलंग पर जाकर तबीयत खराब होने का बहाना बनाकर लेट गई थी। रात-भर मैं रोती और सिसकती रही और उस अजीब परिस्थिति का ठीक-ठीक अर्थ लगाने की चेष्टा भी मन ही मन करती रही, जिसमें तुम मुझे अचानक छोड़कर चले गए थे। कोई पति अपनी स्त्री को किसी भी हालत में इस तरह छोड़ सकता है, इस बात की कल्पना ही उसके पहले मैं नहीं कर पाती थी। तब मैं इस हद तक भोली और मूर्ख थी! उस घटना के बाद जब मैं धीरे-धीरे उस पहले धक्के से कुछ संभली तब दूसरी बार मिस्टर सिंह से मिलने पर मैंने उन्हें कुछ दूसरी ही आंखों से देखा। तुम्हारी धूर्तता का आभास तब तक मेरे आगे कुछ-कुछ स्पष्ट हो चुका था और तुम्हारी पुरुषत्व-हीनता का पता भी उस एक घटना से मुझे मिल चुका था। इसलिए मेरे निष्कलंक हृदय में उसकी जो प्रतिक्रिया हुई, उसका फल यह हुआ कि एक निराले ही पाप का बीज मेरे अनजान में मेरे भीतर किसी ने बो दिया। इस बार मिस्टर सिंह की आकृति-प्रकृति एक दूसरे ही रूप में मेरे सामने आई। उस दिन मैं बड़े कुतूहल से उन्हें देखती रही, हालांकि मैंने बड़े संकोच के साथ उनसे बातें कीं। तीसरी बार मैं अधिक ढीठ हो उठी और चौथी बार मेरी ढिठाई चरम सीमा को पहुंच गई। मैं जान गई थी कि तुम यही चाहते हो, सो वही हुआ। पर तब से तुम्हारे प्रति मेरे मन में घृणा का भाव किस कदर उमड़ पड़ा, इसका अनुमान तुम शायद इस समय भी लगाने में असमर्थ होंगे, क्योंकि तुम केवल अर्थ और उसमें भी निपट स्वार्थ को छोड़ कर किसी भी विषय की सूक्ष्मता को समझने की बुद्धि ही नहीं रखते। नारी-हृदय की सुकुमार मनोवृत्तियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। आरम्भ से ही तुम्हारी एकमात्र महत्त्वाकांक्षा रही है, किसी भी उपाय से रुपया बटोरना। तुम यह चाहते रहे हो कि एक निज का बंगला हो। जो बाहर-भीतर सुन्दर रूप से सजा हो; एक कार हो; बैंक में एक अच्छी-खासी रकम जमा हो; एक ऐसी फैशनेबुल जोरू हो, जिसके माध्यम से तुम्हें अर्थ और सामाजिक प्रतिष्ठा दोनों साथ-साथ प्राप्त होते रहें। इस चरम लक्ष्य को सामने रखकर तुमने एक हिसाबी बनिये की तरह फूंक-फूंककर, सोच-समझकर, एक-एक कदम आगे बढ़ाया है। मुझसे तुमने जो विवाह किया है, वह केवल इसलिए कि मिस्टर सिंह और उन्हींके समान दूसरे प्रतिष्ठित सरकारी अफसरों के हाथ मुझे सौंपकर अपना पद बढ़ा सको।"

राजेन्द्र के मुंह का रंग एक बार भय से एकदम फीका पड़ जाता था और दूसरी बार क्रोध से तमतमा उठता था। मालिनी की अन्तिम बात सुनकर वह प्रचंड क्रोध से झल्ला उठा, और पास वाली मेज़ पर ज़ोर से हाथ पटककर

भैरव स्वर में बोला, "तुम एकदम झूठ कहती हो। झूठ कहती हो!! झूठ कहती हो!!!" इसके आगे वह कुछ नहीं कह सका।

मानिनी ने अत्यन्त दृढ़ता के साथ कहा, "मैं अक्षर-अक्षर सच कह रही हूं। पचास रुपल्ली के एक साधारण क्लर्क की हैसियत से तुम जो आज केवल पांच वर्षों के भीतर पांच सौ रुपये की तनख्वाह पानेवाले अफसर बने बैठे हो, यह केवल मेरी ही बदौलत। मिस्टर सिंह ने, तथा और भी दो-एक प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने, वे कौन हैं यह बात तुमसे छिपी नहीं है, तुम्हारी तरक्की के लिए जो कोशिशें की हैं, उन्हें क्या तुम सचमुच भूल गए हो? नहीं, यह नहीं हो सकता। तुम हर्गिज़ नहीं भूल सकते। क्योंकि तुमने घृणित स्वार्थ को ध्यान में रखते हुए जान-बूझकर उन लोगों के हाथ···"

"झूठ! झूठ!! सरासर झूठ!!!" राजेन्द्र ने मेज़ पर फिर एक बार हाथ पटकते हुए कहा। पर इस बार के पटकने में ज़ोर कुछ कम हो गया था। पता नहीं क्यों।

"तुम झूठ कहकर एक ज्वलन्त सत्य को उड़ा देना चाहोगे और मैं मान लूंगी? खूब! मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य यह सोचकर होता है कि कोई आदमी इस हद तक नपुंसक कैसे हो सकता है। यह जानते हुए भी कि तुम्हारी स्त्री दूसरे पुरुषों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किए हुए है, तुम्हारे मन में कभी ईर्ष्या का भाव लेशमात्र भी उत्पन्न नहीं हुआ। अरे भले आदमी, कभी एक बार भी तुमने सोचा होता कि जिस पुरुष से तुम्हारी पत्नी की घनिष्ठता है, वह अपने मन में तुम्हें कितना बड़ा गधा समझता होगा। आर्थिक उन्नति की भावना के कारण तुमने नीति को तिलांजलि दी, प्रतिष्ठा खोई और अपने पुरुषत्व का दिवाला निकल जाने की घोषणा सारे समाज में कर दी। और सबसे बड़ी दिल्लगी की बात यह कि सब कुछ जानते हुए भी तुमने अपनी पत्नी के साथ 'दाम्पत्य सम्बन्ध' स्थापित रखा! जब तक तुम्हारे अफसरों के साथ मेरा सम्बन्ध बना रहा, तब तक तुम्हारी कुल की मर्यादा और सामाजिक प्रतिष्ठा की सारी भावनाएं न जाने किस गधे के सींगों की तरह गायब हो गई थीं, और आज जब एक सरल-स्वभाव, सहृदय, पर गरीब युवक से मेरा परिचय—केवल परिचय—हुआ है, तो तुम्हारी इतने दिनों तक की दबी हुई सारी नपुंसक ईर्ष्या न जाने कहां से उभर उठी है। सुरेन्द्र से जब मैं मिलती हूं और आंतरिक स्नेह और करुणा से दो-चार बातें करती हूं, तो तुम उचक-उचक उठते हो और आजकल तमाम दिन और तमाम रात मुझे परेशान करते हुए नारी के सतीत्व के सम्बन्ध में लेक्चर पर लेक्चर एक बात को लेकर बघारते चले जाते हो! यह सब केवल इस कारण कि जिस नये व्यक्ति से मेरा परिचय हुआ है, उससे कोई आर्थिक लाभ तुम्हें नहीं हो सकता। कहां

गई थी तुम्हारी वह ईर्ष्या जब जौहरी का वह लड़का पांच हज़ार रुपये के जड़ाऊ कंगन तुम्हारे सामने मुझे बिना दाम के दे गया था और दूसरे ही दिन तुम्हारी सम्मति से मुझे अपनी 'फिटन' में सैर कराने ले गया था ? कहां गई थी तुम्हारी वह ईर्ष्या जब मैं मिस्टर सिंह की कार में रात के दो-दो, ढाई-ढाई बजे घर वापस आती थी ? तब तो तुम, सब कुछ जानते हुए भी बड़े प्यार और दुलार से मुझसे बातें किया करते थे।"

इतने में प्रायः पांच साल के एक सुन्दर बच्चे ने दाई के साथ भीतर प्रवेश किया। इससे आधे क्षण के लिए शायद मालिनी की वाग्धारा की प्रगति में कुछ रुकावट पड़ी। पर तत्काल उसकी उत्तेजित अवस्था ने चरम रूप धारण कर लिया। उसकी आंखें पूर्ण उन्मादग्रस्त व्यक्ति की आंखों की तरह अस्वाभाविक रूप से चमक उठीं। तमाम चेहरा दहकते हुए अंगारों से प्रकाश की तरह लाल हो उठा और दाई के बाहर निकलते न निकलते वह बच्चे की ओर उंगली से संकेत करके प्रायः चीख उठी, "कहां गई थी तुम्हारी ईर्ष्या जब तुम जानते थे कि यह बच्चा तुम्हारा नहीं, बल्कि किसी दूसरे व्यक्ति का है, जिसके साथ तुम चाहते थे कि मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाए ?"

यह कहती हुई वह उसी निपट पागलपन की अवस्था में उठ खड़ी हुई।

राजेन्द्र भी उचककर खड़ा हुआ और एक विचित्र अस्वाभाविक स्वर में गुहार मारता हुआ बोला, "मालिनी ! मालिनी ! तुम यह क्या कहती हो ? क्या सचमुच······क्या सचमुच······" उसने पल-भर के लिए एक बार बच्चे की ओर—जो भौंचक्का-सा खड़ा था—देखा, फिर तत्काल उसकी ओर से आंख फेरकर मालिनी के प्रचंड हिंसक रूप की ओर सहमता, सकुचाता हुआ देखने लगा। उसके बाद बोला, "मैं कसम खाकर कहता हूं, मुझे इन सब बातों का पता आज तक नहीं था। तुम्हारे इतना कहने पर भी मैं इन सब बातों को झूठ, गलत समझता हूं, क्योंकि मुझे तुम्हारे चरित्र पर पूरा विश्वास आरम्भ से ही रहा है। यही कारण था कि मैंने निश्चित होकर बिना किसी बात की आशंका के, तुम्हें अपने परिचित पुरुषों के साथ हेलमेल बढ़ाने दिया और कभी किसी बात का सन्देह मेरे मन में पैदा नहीं हुआ। आज न मालूम तुमको क्या हो गया है, जो तुम इस तरह की बेसिर-पैर की बातें कर रही हो।"

उसके चेहरे से हवाइयां उड़ रही थीं और उसके मुख की अभिव्यक्ति इस तरह दयनीय हो उठी थी कि मालूम होता था जैसे अब वह रोने ही को है। मालिनी को इस बात से तनिक भी दया नहीं आई, बल्कि एक घोर प्रतिहिंसापूर्ण प्रसन्नता का भाव उसके मुख पर दमक रहा था। उसने अत्यन्त स्थिर, किन्तु कठोर स्वर में कहा, "मैं कतई बेसिर-पैर की बात

कर रही हूं। बल्कि घोर यथार्थ सत्य तुम्हारे आगे प्रकट कर रही हूं। तुमने अपनी कुलीनता के दामों पर मुझे खरीदा और पांच सौ रुपये की नौकरी के मोल मुझे बेचा। अपने हीन स्वार्थ के लिए तुमने मुझे वेश्या बनाकर छोड़ा है। छुटपन से मैं इस बात का स्वप्न देखा करती थी कि किस प्रकार मैं अपने पति का एकान्त प्रेम पाकर, पति के जीवन की सच्ची संगिनी बनकर, प्यारे-प्यारे बच्चों की मां बनूंगी, सन्तोषपूर्ण और पवित्र गृहस्थ जीवन बिताऊंगी। कम्पनी बाग वाली उस घटना ने—जिसे आज पांच वर्ष बीत चुके हैं—मेरे उन सारे स्वप्नों को चकनाचूर कर दिया। इन पांच वर्षों के भीतर मेरी बाहरी आत्मा ने राग-रंग से भरा मुक्त जीवन बिताया है, सन्देह नहीं, पर मेरे भीतर दबी नारी की आत्मा ने जल-जलकर श्मशान बनते हुए तुम्हें जो अभिशाप दिया है, उसका हज़ारवां अंश भी अगर मैं ठीक से तुम्हारे आगे और तुम···"

इतने में नौकर ने आकर खबर दी कि सुरेन्द्र बाबू आए हैं। राजेन्द्र इतनी देर तक मुर्दे की तरह निष्प्राण और प्रेतात्मा की तरह निःसत्व चेहरा लिए खड़ा था। सुरेन्द्रनाथ का नाम सुनते ही वह सजीव हो उठा। उसने नौकर से कहा, "सुरेन्द्र बाबू से कह दो कि आज बीबीजी की तबीयत खराब है, वह नहीं मिल सकतीं।" नौकर हुक्म बजा लाने के लिए वापस जाने ही को था कि मालिनी ने उसे टोकते हुए कहा, "ठहरो! सुरेन्द्र बाबू से कहो कि बीबीजी आ रही हैं।"

यह कहकर वह बड़े शीशे के पास गई और सज-संवरकर कंघी-चोटी करने के बाद मचमचाती हुई बाहर चली गई। राजेन्द्र बेवकूफों की तरह देखता ही रह गया।

प्लैनचेट

लाला शंकरदयाल अपने शहर के प्रसिद्ध वकील थे। उनकी पत्नी ब्रजेश्वरी की मृत्यु प्रायः चार मास पहले हुई थी। तब से वकील साहब के मन की दशा शोचनीय हो उठी थी। वह सब समय चिन्ताग्रस्त दिखाई देते थे और लोगों से मिलना-जुलना उन्होंने प्रायः छोड़ दिया था। जो कोई भी मुवक्किल उनके पास आता था उसे वे टरका देते थे। अपने मित्रों के आगे भी उन्होंने ऐसी उदासीनता का रुख अख्तियार कर लिया था कि वे भी धीरे-धीरे उनसे दूर रहने की बात सोचने लगे थे। वह दिन-भर अपने मकान में बन्द पड़े रहते और शाम को जब अच्छी तरह अंधेरा हो जाता तब एक-आध घंटे के लिए अकेले किसी निर्जन स्थान में टहलने के लिए बाहर निकलते। सब समय ज्ञात में या अज्ञात में वह केवल अपनी मृत पत्नी की ही बात सोचते रहते। सोचते-सोचते कभी-कभी वह ऐसे भाव-विह्वल हो उठते कि उनकी आंखों से बरबस टपाटप आंसू टपकने लगते। लाख कोशिश करने पर भी वह उन आंसुओं को रोक न पाते। ऐसी मानसिक दशा में वह प्रायः दस-पन्द्रह मिनट तक आंसू गिराते रहते। जब वह भावावेश अपने-आप समाप्त हो जाता तब उन्हें कुछ समय के लिए बहुत चैन मिलता।

ऐसी बात नहीं थी कि वह अपने मन की उस असाधारण दशा के खतरों से परिचित न हों। वह भली भांति जानते थे कि यदि उनके मन की वह एकान्तप्रिय भावमग्न दशा कुछ समय तक और रही तो वह पागल तक हो सकते हैं, पर उस असाधारण मानसिक अवस्था से, आप चाहे उसे मोहाच्छन्नता कहें, चाहे भावमग्नता, छुटकारा पाने में वह अपने को एकदम असमर्थ पाते थे।

आश्चर्य की बात सबसे अधिक यह थी कि जब तक उनकी पत्नी जीवित रही, तब तक कभी वह उसके सम्बन्ध की किसी भी बात को लेकर विशेष चिन्तित नहीं रहे और उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में भी एक प्रकार से उदासीन ही रहे। ब्रजेश्वरी की मृत्यु के पूर्व कुछ महीनों से वह उसका इलाज डाक्टरों से करवा रहे थे। पर उन्हें यह विश्वास हो गया था कि कैन्सर के जिस असाध्य रोग ने उसे पकड़ लिया है उससे वह बच नहीं सकती और जल्दी ही ऐसा दिन आने वाला है जब वह इस संसार के समस्त बन्धनों से सम्बन्ध तोड़-

कर किसी अदृश्य लोक में चली जाएगी। यह सब जानने पर भी उनके मन में इस बात को लेकर कोई आतंकजनक प्रतिक्रिया नहीं हुई।

पर पत्नी की मृत्यु के बाद वकील साहब को जैसे अकस्मात् उसकी प्रेतात्मा ने घर दबाया हो! वह प्रेतात्मा सब समय जैसे उनके पीछे-पीछे चलती-फिरती, जब वह सांस लेते थे तब जैसे उनके साथ वह भी सांस लेती थी. वह बैठते थे तो वह भी बैठती थी, वह उठते थे तो वह भी उठती थी, और वह सोते थे तो वह भी जैसे उनके सिराहने पर बैठकर रात-भर सर्द आहें भरती हुई जागती रहती थी।

वकील साहब आध्यात्मिक विषयों पर श्रद्धा रखते थे। वर्षों से वह प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थों का अध्ययन बड़ी दिलचस्पी से करते आ रहे थे। वकालत से अवकाश पाने पर यदि किसी विषय की चर्चा उन्हें प्रिय लगती थी तो वह था दर्शन और अध्यात्म-तत्त्व। पर जब से ब्रजेश्वरी उनसे सदा के लिए बिछुड़ गई तब से उनकी दिलचस्पी प्रेतात्म विद्या की ओर बढ़ने लगी। वह दर्शन-वर्शन सब भूल गए और इस बात में भी उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं रही कि जीवात्मा का परमात्मा से क्या सम्बन्ध है। अब वह एकमात्र इस चिन्ता में मग्न रहने लगे कि परलोकगत आत्माओं से वार्तालाप किस उपाय से किया जा सकता है। इस बात पर उनका विश्वास दिन-प्रति-दिन दृढ़ से दृढ़तर होता जाता था कि यदि किसी व्यक्ति में सच्ची धुन और पक्की लगन हो तो वह निश्चय ही किसी भी परलोकगत आत्मा को अपने पास बुला सकता है और उसके साथ जी खोलकर बातें कर सकता है। इधर कुछ समय से वह रात-दिन प्रेतात्म विद्या-सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन में रत रहते थे और साथ ही विदेशों के प्रमुख प्रेतात्मवादियों से लिखा-पढ़ी करके इस विषय से सम्बन्धित बहुत-सी गूढ़ और महत्त्वपूर्ण बातें जानने की चेष्टा में रहते थे।

धीरे-धीरे इस विषय का ज्ञान उन्होंने इस हद तक बढ़ा लिया कि स्वयं अपने हाथ से स्मरण-शक्ति के आधार पर एक बिलकुल नये ढंग का 'प्लैनचेट' तैयार करने के काम में जुट गए। वकालत पास करने के पहले उन्होंने विश्व-विद्यालय में विज्ञान बड़े मनोयोग से पढ़ा था और उसमें प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे। प्लैनचेट को उन्होंने ऐसे तीव्र अनुभूतिशील वैद्युतिक और चुम्बकाकर्षणयुक्त पदार्थों से निर्मित किया जो सूक्ष्म से सूक्ष्म हल्के से हल्के तड़ित्-प्रवाह को बड़ी आसानी से पकड़ सकते थे। कम से कम वकील साहब को ऐसा ही विश्वास था कि वह प्लैनचेट निश्चय ही अदृश्य प्रेतात्माओं के अति सूक्ष्म स्पन्दनों को भी बहुत दूर से खींचकर अपने भीतर बांध लेगा।

वह उस प्लैनचेट को नित्य रात में सोने के समय अपने सिरहाने के पास

तैयार अवस्था में रख देते थे। उन्हें यह विश्वास था कि उनकी पत्नी की जो परलोकगत आत्मा अदृश्य छायामय रूप में नित्य उनके पीछे-पीछे विचरण करती फिरती है, वह प्लैनचेट द्वारा निश्चय ही एक न एक दिन अपने परलोक-प्रवास के जीवन पर प्रकाश डालेगी। दूसरे प्रकार के प्लैनचेट में परलोकगत आत्माओं को बुलाने के लिए जिस प्रकार सामूहिक रूप से टेबिल के ऊपर हाथ रखने की आवश्यकता पड़ती है, लाला शंकरदयाल के मत में उनके अपने हाथ से तैयार किए हुए उस विशेष प्लैनचेट में उस बात की कोई आवश्यकता न थी। जैसा कि कहा जा चुका है कि उसे विद्युत् और चुम्बक तत्त्वों से इतना अधिक संवेदनशील, सतेज और प्राणवाही बना दिया गया था कि वह अपने-आप बिना किसी हाथ की सहायता के प्रेतात्माओं को ग्रहण करके लिपिबद्ध कर लेगा, ऐसी वकील साहब की धारणा थी।

वह नित्य उससे प्रयोग करते जाते थे। प्रतिदिन उसे अधिकाधिक अनुभूतिशील बनाने की चेष्टा में रहते थे और प्रतिदिन उसे अपने सिर के पास रखकर इस प्रत्याशा में सोने की तैयारी करते कि सम्भवतः उनकी पत्नी की प्रेतात्मा उसके माध्यम से अपना कुछ हाल उन्हें बता जाए। उनका यह खयाल था कि प्रेतात्माएं व्यक्तियों के सोने के समय ही विशेष रूप से अपने को प्रकट करना पसन्द करती हैं।

वकील साहब बहुत दिनों तक बड़े अधैर्य से रात-रात-भर अर्द्धनिद्रावस्था में अपनी पत्नी की प्रेतात्मा का कोई संकेत पाने की प्रतीक्षा करते रहे, पर उनकी आशा पूरी न हुई। अन्त में एक दिन वह बड़ी निराश अवस्था में प्रायः बारह बजे रात के समय अपने पलंग पर सोने के इरादे से लेटे। उनकी आंखें कुछ झपने लगी थीं कि इतने में पास ही कहीं से सहसा किसी ने हारमोनियम बजाकर अपने मोटे गले से आलापबाज़ी शुरू कर दी, साथ ही पास ही कहीं से कीर्तन का एक सम्मिलित स्वर आकाश में गूंज उठा।। उससे उनकी नींद उचट गई। वह तरह-तरह की चिन्ताओं में मग्न होकर लेटे ही थे कि कुछ समय बाद अचानक उन्हें सिरहाने पर रखे हुए प्लैनचेट में खसर-खसर-सी आवाज़ सुनाई दी। वह बड़े ज़ोर से कान लगाकर सुनने लगे। यह आवाज़ स्पष्ट से स्पष्टतर होती जाती थी और उसका काम एक नियमित गति से चल रहा था। उनकी निगाह प्लैनचेट की ओर गई। अंधेरे में उन्होंने देखा कि सफेद चादर ओढ़े हुए एक छायामूर्ति, जो एक विचित्र प्रभामंडल में आवृत्त थी और कद में उनकी स्वर्गीय पत्नी ब्रजेश्वरी के ही बराबर मालूम होती थी, वहां पर खड़ी प्लैनचेट के नीचे रखे हुए कागज़ों पर जल्दी-जल्दी कुछ लिख रही थी। वकील साहब के हर्ष का कुछ ठिकाना न रहा। उनकी बहुत दिनों की आशा आज चरितार्थ होने जा रही थी। वह चुपचाप इस बात की प्रतीक्षा में लेटे

रहे कि छायामूर्ति लिख चुकने के बाद वहां से हटे तो जाकर पढ़ें कि उसने क्या लिखा है।

उन्हें ऐसा लगा कि काफी देर बाद वह छायामूर्ति वहां से विलीन हो गई। उसके अन्तर्धान होते ही वकील साहब पलंग पर से उठ खड़े हुए और प्लैनचेट के नीचे जो बहुत-से कागज़ उन्होंने दबाकर रख छोड़े थे उनमें प्रेतात्मा ने वास्तव में कुछ लिखा है या नहीं और अगर लिखा है तो क्या लिखा है, यह जानने के लिए वह बत्ती जलाने के उद्देश्य से दियासलाई खोजने लगे। वह दियासलाई खोज ही रहे थे कि अचानक उन्हें प्लैनचेट के नीचे के कागज़ की लिखावट उस अंधकार में रेडियम की घड़ी के अंकों की तरह स्वतः प्रकाश से जगमगाती हुई मालूम हुई। वह लपककर प्लैनचेट के पास गए और कागज़ के जिन टुकड़ों पर प्रेतात्मा ने अपना वक्तव्य लिखा था, उन्हें उठाकर बड़ी अधीरता से खड़े-खड़े पढ़ने लगे। प्रेतात्मा ने लिखा था :

"मेरे मर्त्यलोक के भूतपूर्व पति महाशय, मुझे मालूम हो गया है कि आप मेरे मरने के बाद मेरे लिए किस कदर बेचैन हैं और मेरी चिन्ता में दिन पर दिन घुलते चले जाते हैं। आपकी बेचैनी मुझे बरबस प्रेतलोक से खींचकर आपके पास ले आई है। आप यह जानने के लिए स्वभावतः उत्सुक हैं कि मरने के बाद मैं किस लोक में हूं और किस समाज के बीच में कैसा जीवन बिता रही हूं।

"महाशय ! हम लोगों का जीवन ही क्या हो सकता है, हम तो केवल अशरीरी छायाएं हैं, किसी विगत जीवन की अनुभूतियों की स्मृतियों के सूक्ष्म संकेत-चिह्नों के अतिरिक्त हम और कुछ नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान में भी मर्त्यलोक के भूतपूर्व निकट सम्बन्धियों की तीव्र अनुभूतियों के विद्युत्-स्पन्दन हम लोगों की अति-चेतना से आकर कभी-कभी टकरा जाते हैं, पर उनसे हमें न कोई विशेष सुख होता है न दुःख। कारण यह है कि अनुभूतियों की सुख-दुःखमयी चेतना शरीर के माध्यम से ही हो पाती है और हम हैं कोरी छाया—केवल छाया। पर विगत स्मृतियों की चेतना हमारे छाया-प्राणों में अभी तक कुछ न कुछ दोलन पैदा करती ही रहती है। इसलिए आज आपके आगे इस प्लैनचेट के माध्यम से मैं अपने मर्त्यलोक के जीवन की कुछ ऐसी स्मृतियों का उद्घाटन करना चाहती हूं जिन्हें मैंने मरते दम तक आपके आगे एकदम गुप्त रखा था और जिनका क्षीणतम आभास भी आपके सम्मुख प्रकट नहीं होने दिया था।

"आपके मन में मेरे मरने के बाद यह भ्रांत धारणा घर कर गई है कि आप मुझे आजीवन बहुत चाहते रहे हैं। पर वर्तमान की भ्रांति को झाड़कर यदि आप अपनी स्मृति को एक बार अच्छी तरह टटोलें और हम दोनों के

विगत जीवन पर एक बार ध्यानपूर्वक विचार करें तो आपको याद आवेगा कि आप मेरे अत्यन्त निकट रहने पर भी मुझसे कितनी दूर रहते थे ! पहले तो आपको कोर्ट के कामों से ही फुर्सत नहीं मिलती थी और जो थोड़ा-बहुत अवकाश मिलता भी था, उसे आप या तो अपने मित्रों के संग राजनीतिक या दार्शनिक चर्चा में बिता दिया करते थे या बड़े-बड़े ग्रन्थों के अध्ययन में। मेरे साथ सुख-दुःख की बातें करने, मेरी अन्तराकांक्षाओं से परिचित होने या मुझे किसी भी रूप में अपने जीवन की संगिनी के बतौर मानने की चिन्ता आपके मन में कभी उत्पन्न नहीं हुई। रात के समय कभी-कभी आप मुझसे मिल लेते थे, सन्देह नहीं, पर आपका वह मिलन अपनी सहधर्मिणी, अपनी अर्द्धांगिनी, अपनी सहचरी के साथ न होकर अपनी अनुचरी, अपनी रखेली, अपनी भोगेच्छापूर्ति की साधन-रूपिणी एक काल्पनिक स्त्री के साथ होता था।

"मैं मानती हूं, आप इस बात के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे कि मेरे लिए रुपये-पैसे, गहने-कपड़े, खान-पान आदि सुख-साधनों की कोई कमी न रहने पावे। पर क्या नारी की आत्मा के रीते कोठे को इन पार्थिव उपायों से तृप्त किया जा सकता है ? मेरे मरते दम तक यह बात आपकी समझ में न आई कि आपके साथ मैं दुकेली होते हुए भी अकेली ही थी, सधवा होते हुए भी विधवा थी। आश्चर्य है, दुनिया-भर के अच्छे-बुरे सभी प्रकार के लोगों की तरफ से आप वकालत करते थे, पर मेरी तरफ से अपने ही आगे वकालत करने की फुर्सत आपको कभी नहीं मिल पाई।

"आपको मालूम है, हमारे पड़ोस में एक कीर्तन-मंडली थी। घर में दिन-भर अकेलेपन के हाहाकार से घबराकर मैं प्रायः प्रतिदिन दोपहर के समय वहां जाया करती थी। वहां भक्त नारी-मंडली के साथ मैंने भगवान के चरणों में लौ लगानी शुरू कर दी। जिन भगवान ने अपनी किशोरलीला के अनगिनत रूप दिखाकर ब्रज में प्रेम की बाढ़ ला दी थी, उनकी आराधना में अपने सारे मन को—सारी आत्मा को डुबा देने की पूरी चेष्टा में मैं लग गई। आरम्भ में कुछ समय तक मुझे ऐसा लगा कि मैं विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेम के लोक में पहुंचकर भगवान के अत्यन्त निकट जा पहुंची हूं। लौकिक प्रेम के अभाव की पूर्ति अलौकिक प्रेम से होते देखकर भीतर ही भीतर मैं एक समुन्नत गर्व की भावना से फूली नहीं समाती थी। पर मेरे उस गर्व को चूर करने के लिए शीघ्र ही एक विघ्न आ खड़ा हुआ। ऊपरी नियम और संयम के नीचे मेरे भीतर जो दुर्बलता दबी पड़ी थी, उसके उधेड़ने की नौबत आ गई।

"उस कीर्तन-मंडली के साथ एक संगीत-शाला जुड़ी हुई थी। वह भी दो भागों में बंटी हुई थी : गायिका-समाज और दूसरा गायक-समाज। साधारण

अवसरों पर गायिका-समाज की संगीत-शिक्षा दिन में होती थी और पुरुष-समाज की रात में। पर कुछ विशेष धार्मिक तिथि-त्योहारों के अवसरों पर पुरुष-स्त्रियां दोनों संगीत-शाला में साथ ही भाग लेते थे। दोनों के बीच में केवल पतली चिक का एक झीना-सा व्यवधान रहता था। जो महाशय पुरुष गायक-समाज के मुखिया थे वह अधेड़ अवस्था के एक सीधे-सादे व्यक्तित्वहीन व्यक्ति थे। उन्होंने अकस्मात् किसी कारण से आना बन्द कर दिया या वह बीमार पड़ गए थे, या शहर छोड़कर किसी दूसरे स्थान में चले गये थे। जो भी हो, उनके स्थान पर जिन नये महाशय ने पुरुष-मंडली का नेतृत्व ग्रहण किया उनकी अवस्था तीस वर्ष से अधिक न रही होगी। वह देखने में अत्यन्त स्वस्थ और सुन्दर लगते थे और उनका व्यक्तित्व विशेष आकर्षणशील था। वह जाति के ब्राह्मण थे और उनका नाम राधामोहन शर्मा था। जब वह भावमग्न होकर अधमुंदी आंखों में मोहकता झलकाते हुए गाते थे तो देखने और सुननेवालों पर बड़ा असर पड़ने लगता। मैं भरसक उस आकर्षण का प्रतिरोध करने लगी और उनके व्यक्तित्व के प्रति उदासीन रहने का पूरा प्रयत्न करने लगी। पर मेरे सब प्रयत्नों का परिहास करते हुए उनकी मोहकता मुझे बरबस भूत की तरह दबाती चली जाती थी।

"आरम्भ में मैंने अपने मन की इस अवस्था को एक साधारण-सी बात समझकर उसे कोई महत्त्व ही नहीं देना चाहा। पर धीरे-धीरे मेरे अनजान में—या जान में—इस बात को लेकर मेरा मन अस्थिर होता चला गया और एक अनोखी बेचैनी मेरे भीतर समा गई जो एक क्षण के लिए भी मेरा साथ नहीं छोड़ना चाहती थी। मेरा संगीत-प्रेम एक दूसरे ही मनोभाव के रूप में बदल गया। जब मैं कीर्तन के समय या घर पर एकान्त ध्यानावस्था के क्षणों में कृष्ण का ध्यान करने लगती तो उनकी सांवरी-सलोनी छवि मेरे मन की आंखों के आगे राधामोहन शर्मा के रूप में बदल जाती। मैं इस भाव को भयंकर पाप समझकर कितना ही छटपटाती, अपने चंचल मन के साथ भयंकर लड़ाई लड़ती, पर मेरे सब प्रयास निष्फल जाते। राधामोहन शर्मा किसी प्रकार मेरे मन से हटते ही न थे। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि मैं इस तरह पागल हो जाऊंगी और इस प्रकार की कलुषित भावना को मन में पोषित करने की अपेक्षा मैंने आत्महत्या कर लेना बेहतर समझा। पर मेरा युग-युग-व्यापी हिन्दू संस्कार आत्महत्या को उससे भी भयंकर पाप समझता था, इसलिए उसके लिए भी हिम्मत नहीं पड़ती थी। मैंने कई बार सोचा कि अपने मन के उस द्वन्द्व को आपके आगे व्यक्त करके अपने जी का भार हल्का करूं और आपसे हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करूं कि किसी उपाय से इस घोर पाप से बचाइए। पर अपने, विशेषकर अपने मन के भावों के प्रति आपकी निपट

अवज्ञा देखकर आपसे इस सम्बन्ध में कुछ भी [illegible] नहीं होना था।

"जिस प्रकार पुरुष-गायक-समाज के परिचालक वह थे उसी प्रकार गायिका-समाज की परिचालिका मैं थी। इसलिए जब चिक के परली पार उनकी दृष्टि जाती होगी तो वह निश्चय ही मेरी प्रत्येक मुद्रा पर गौर करते होंगे। जब से मैं उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुई तब से न चाहने पर भी गाते समय मेरे मन में यह ध्यान प्रतिक्षण रहता कि राधामोहन शर्मा जी चिक के उस पार से मेरी ओर देख रहे हैं और मेरा गाना सुन रहे हैं। इसलिए मैं बरबस अपने सुर को अधिक आकर्षक बनाने के प्रयत्न में दत्तचित्त रहती।

"एक दिन उनके घर की स्त्रियों ने, जिनमें एक उनकी पत्नी और दूसरी उनकी विधवा बहन थी, किसी पुण्य अवसर पर अपने घर में अखंड कीर्तन कराने का निश्चय किया और दूसरी स्त्रियों के साथ मुझे भी आमन्त्रित किया। निमन्त्रण के दिन जब मैं राधामोहन के यहां गई तो वह दरवाज़े पर हम लोगों के स्वागत के लिए स्वयं खड़े थे। अपनी भावपूर्ण आंखों में स्निग्ध मुस्कान का संयत आभास झलकाते हुए उन्होंने मेरी ओर देखा। उनकी उस दृष्टि में मुझे एक ऐसी निराली प्रीति की अन्तर्वेदना छिपी जान पड़ी जिसने सीधे मेरे मर्म में जाकर चोट पहुंचाई। उस दिन हम दोनों ने पहली बार एक-दूसरे को आमने-सामने बिना किसी चिक के व्यवधान के देखा था। इसलिए वैद्युतिक चुम्बक की सूक्ष्म तरंगें किसी रोक-टोक के बिना एक-दूसरे की आत्मा के साथ सीधी टकराने लगीं। केवल क्षण-भर के लिए उनसे मेरी चार आंखें हुई होंगी, उतने ही में किसी अज्ञात रहस्यमयी शक्ति के जादू ने एक अनन्त-व्यापी मोहजाल हम दोनों के आगे फैला दिया—मुझे ऐसा लगा।

"जब मैं भीतर जाकर कीर्तन-मंडली के बीच में बैठी तो मेरी आत्मा का एक-एक सूक्ष्म से भी सूक्ष्म परमाणु 'राधामोहन! राधामोहन!' की रट लगाने लगा। उनका 'राधामोहन' नाम भी जैसे किसी दैवी चक्र ने रख दिया हो, उस दिन सम्पूर्ण आत्मा से केवल उन्हींको ध्यान में रखकर मैं कीर्तन करती रही। दिन-भर और रात-भर के अखंड कीर्तन के बाद जब दूसरे दिन मैं घर वापस जाने लगी तो वह फिर दरवाज़े पर खड़े थे। मुझे देखकर उन्होंने अपनी भाव-विभोर आंखों में कृतज्ञता झलकाते हुए मेरी ओर हाथ जोड़े। मैं इस बार भी क्षण-भर से अधिक उनकी ओर न देख सकी। पर उतने ही समय के अन्दर फिर एक बार उसी वैद्युतिक चुम्बक की तरंग ने मेरी आत्मा को पूरी शक्ति से आन्दोलित कर दिया। तांगा खड़ा था। मेरे साथ की दो स्त्रियां पहले ही बैठ चुकी थीं। अन्त में मैं पीतल का डंडा पकड़कर ऊपर उठी। मेरे बैठने के पहले ही तांगेवाले ने भूल से घोड़े को हांक दिया। अचानक झटका

लगने से मेरा हाथ डंडे से फिसल गया और मैं बुरी तरह गिर गई होती यदि ऐन मौके पर राधामोहन शर्मा, जो वहीं पर खड़े थे, मेरा हाथ पकड़ न लेते।

"उनके हाथ के स्पर्श से वैद्युतिक चुम्बक की तरंग मेरी भीतरी परिधि से हटकर बाह्य शरीर के क्षेत्र में व्याप्त हो गई और उसने ऐसे तूफानी ताल से हिलोरें लेना आरम्भ कर दिया जो मेरे लिए जीवन में एकदम नया अनुभव था। जब मैं घर पहुंची तो मेरे हृदय के आसपास एक अनोखे प्रकार की फड़-फड़ाहट-सी होने लगी—बीच-बीच में, मेरे शरीर के भीतर किसी स्थान में एक तीखी टीस-सी उठी। उसी दिन से उस घातक रोग के आक्रमण का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण दो वर्ष बाद मेरी मृत्यु हो गई। महाशय, उस साधारण घटना की प्रतिक्रिया ऐसे विकट रूप से मेरे भीतर होने लगी कि मैं प्रतिदिन भीतर से भी छटपटाने लगी और बाहर से भी। यदि आपने मेरे शरीर और मन के इस तूफानी परिवर्तनचक्र पर समय रहते ध्यान दिया होता तो सम्भव है मैं किसी कदर बच जाती। पर आपने वास्तविकता से कतराने के कारण यथार्थ परिस्थिति को जानने की चेष्टा कभी नहीं की और केवल डाक्टरी इलाज कराके अपना कर्त्तव्य पूरा हुआ समझ लिया। यह आपकी बड़ी भूल थी, जैसाकि अब आप महसूस करने लगे हैं। उसकी प्रतिक्रिया अभी काफी लम्बे अर्से तक आपके भीतर चलती रहेगी।"

इतना पढ़ते ही वकील साहब की नींद उचट गई। कुछ देर तक वह आंखें मलते रहे। उसके बाद इधर-उधर देखने लगे। जब कुछ न दिखाई दिया तो पलंग पर से उठकर प्लैनचेट के पास गए, यह देखने के लिए कि उसके नीचे कागज़ में सचमुच कुछ लिखा है या नहीं। उनकी निराशा और विस्मय की सीमा न रही जब उन्होंने देखा कि प्लैनचेट के नीचे का कागज़ एकदम कोरा पड़ा हुआ था जबकि कुछ ही क्षण पहले उसमें एक-एक अक्षर साफ लिखा हुआ उन्होंने पढ़ा था।

वह सोचने लगे, तब क्या ब्रजेश्वरी की प्रेतात्मा स्वप्न में उनके पास आई थी, जागरण अवस्था में नहीं? हां, स्वप्न ही तो था, हालांकि वह जागरण अवस्था से भी अधिक प्रत्यक्ष सत्य मालूम होता था। पर यह कैसे मान लूं कि चूंकि उसने स्वप्नावस्था में आकर अपना बयान लिखा इसलिए वह असत्य है। प्रेतात्माएं जिस सूक्ष्म अवस्था में अपना जीवन बिताती हैं उसमें यही अधिक सम्भव है कि वे स्वप्न की सूक्ष्म अवचेतन अवस्था में ही हम लोगों के अधिक निकट आ पाती हैं। यदि ब्रजेश्वरी की प्रेतात्मा का आना सत्य नहीं है तो उसका जो अनोखा बयान मैंने स्वप्न में पढ़ा है उसकी बहुत-सी बातों की कल्पना ही मेरे मन में कैसे उदित हो गई, जिनके सम्बन्ध में मैंने कभी कुछ सोचा न था।

उन्होंने निश्चय किया कि वह अपने पड़ोस की कीर्तन-समिति में जाकर इस बात का पता लगाएंगे कि वहां राधामोहन शर्मा नाम के कोई सज्जन हैं या नहीं। उसी दिन वह नहा-धोकर नाश्ता-वाश्ता करके पता लगाने चल पड़े। कीर्तन-समिति में जाकर पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि वहां राधामोहन शर्मा नाम के कोई सज्जन कभी नहीं आए। बाद में किसी ने इस तथ्य की ओर वकील साहब का ध्यान दिलाया कि पास ही एक सज्जन राधामोहन शर्मा नाम के रहते हैं जो कीर्तन-समिति में कभी नहीं आते, पर अपने ही घर में रात-आधी रात जब मौज आई हारमोनियम बजाकर गंधर्वस्वर में निराली आलापबाज़ी के साथ गाने लग जाते हैं और मुहल्लेवालों की नींद खराब करते हैं। अचानक वकील साहब को याद आया कि वह इस राधामोहन को अच्छी तरह जानते हैं। वह एक्साइज़ आफिस में एक साधारण क्लर्क था और एक बार एक मुवक्किल को लेकर उनके पास आया था। उसकी अर्द्धरात्रि के विकट आलाप से स्वयं वकील साहब की नींद कई बार नष्ट हो चुकी थी। उन्हें याद आया कि ब्रजेश्वरी की प्रेतात्मा का स्वप्न देखने के पहले जब वह सोने की तैयारी कर रहे थे तब वही राधामोहन शर्मा हारमोनियम बजाता हुआ गला फाड़-फाड़कर आलापबाज़ी कर रहा था। तब क्या उनके उस सारे स्वप्न के मूल में केवल उसी राधामोहन नाम के गधे की आलापबाज़ी थी? वकील साहब बहुत देर तक इसी प्रश्न पर विचार करते रहे, पता नहीं उनके अन्तर्मन ने इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया।

डायरी के नीरस पृष्ठ

बाज़ार में टीन की ढलवां छतों से छाए हुए सब मकान एक-दूसरे से बिलकुल सटे हुए हैं। जिस भाड़े के मकान की दूसरी मंज़िल में मैं रहता हूं, उसका बाहर का कमरा केवल पांच फुट चौड़ा है। उसके बाद सीधे आगे की ओर बढ़ने पर जो कमरा मिलता है वह प्राय: आठ फुट चौड़ा और उतना ही लम्बा है, पर बिलकुल अंधकारमय है। इसी घुप अंधेरे कमरे के एक कोने में मेरी चारपाई लगी है। इसके आगे दो कमरे और हैं। एक में काठ-कबाड़ पड़ा है, दूसरे में रसोई होती है। इसके बाद एक छोटा-सा बरामदा है। अगल-बगल में कोई कमरा नहीं है। एक सरल रेखा में ये चार कमरे जुड़कर एक निवास-गृह के रूप में स्थित हैं।

श्रावण का महीना है। बहुत दिनों से सूर्य के दर्शन नहीं हुए हैं। निर्मल आकाश के दिन भी कभी मेरे चिरांधकारमय कमरे में प्रकाश नहीं होता, तिसपर यह बदली और उसपर भी नैनीताल का कुहरा। यह मौसम मेरी मानसिक परिस्थिति के अनुकूल है। विकल मोहाच्छन्न होकर घोर तामसिक छाया के आश्रय में दिन और रात अपनी चारपाई पर पड़ा-पड़ा मैं किन भ्रामक स्वप्नों में निमग्न रहता हूं।

दिन में मकान के सब बाबू लोग अपने-अपने दफ्तरों को चले जाते हैं। शून्य गृह में चारपाई में पड़ा-पड़ा जब उकता जाता हूं तो कमरे के बाहर मैं एक कुर्सी पर खिड़की के पास बैठकर बाज़ार में लोगों का आना-जाना देखता रहता हूं। हमारे मकान के ठीक नीचे एक अफीम और चरस की दुकान है। कांग्रेस की तरफ से पिकेटिंग के लिए वहां बारह-तेरह वर्ष के दो लड़के खड़े हैं। दोनों बड़े चुस्त-चालाक हैं। जो ग्राहक आता है उसे हाथ जोड़कर, देश की दुर्दशा की दुहाई देकर, नशे की अपकारिता पर लेक्चर बघारकर रोक रहे हैं। ग्राहकों में से अधिकांश भंगी, चमार, धोबी तथा अन्यान्य तथाकथित निम्न श्रेणी के ही आदमी हैं। लड़कों की कातर प्रार्थना से वे व्याकुल हैं, तथापि नशे की उत्कट लालसा से विताड़ित है। स्वराज्य के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी इस दुर्दान्त नशे को छोड़ना वे नहीं चाहते। उनके चेहरों के क्षुधार्त, पिपासित भावों से अनुमान करता हूं कि अपने निर्जीव, समाज-दलित, संसार-चक्र-निपीड़ित जीवन में केवल नशे के समय ही वे वास्तविक जीवन का

कुछ कृत्रिम आभास पाते हैं। यह प्रश्न बार-बार मेरे मस्तिष्क में आघात करता है कि उनका नशा छुड़ाने से क्या वास्तव में उनका हित होगा अथवा उनमें जीवन की जो कुछ भी चिनगारी अवशेष है वह भी बुझकर वे एकदम कोयले और राख की तरह जड़ बन जाएंगे ?

उनके प्रति सहानुभूति का एक और कारण भी है। अब मैं भी नशा करने लगा हूं। छब्बीस-सत्ताईस साल तक एकदम 'सात्विक' जीवन बिताकर अब तमाखू पीने लगा हूं, चाय के गुलाबी नशे में रंगने लगा हूं। इन दो चीजों के बिना मुझे तनिक चैन नहीं मिलता। मेरे एकाकी, निःसंग तामसिक जीवन में केवल ये ही दो सहृदय साथी मुझे बड़ी मुश्किल से प्राप्त हुए हैं। बहुत संभव है, अपने-आपको ठगता होऊं, पर इस आत्म-वंचना की भी इस समय मुझे परम आवश्यकता है।

रसोई के कमरे से लगा हुआ जो बरामदा है उसपर खड़े होकर कभी-कभी जब बाहर को नज़र दौड़ाता हूं तो सामने हरियाली से ढके हुए पहाड़ पर एक विचित्र चित्रमय जगत् मेरी आंखों के सामने से गुज़रता है। स्थान-स्थान पर छोटे-बड़े स्वच्छ, सुन्दर बंगले ऊपर-नीचे स्थित हैं। अपने बाज़ार वाले मकान के खटमलों की याद करके उन्हें देखकर जी ललचाता है। सामने सड़क के चौरस्ते पर लेक ब्रिज के नीचे से होकर झील का प्रवाह अतिवृष्टि के कारण मुक्त कर दिया गया है। उस जल-राशि का प्रवेग कठिन शिलाओं से टकराता हुआ दुग्धफेन से भी शुभ्र, धवल रूप धारण करके, गर्जन करता हुआ उद्दामवेग से नीचे को बहा चला जाता है। उसके जल-शीकर उछल-उछलकर पथिकों को मंत्रमुग्ध कर रहे हैं। नीचे मकानों की जो कतार लगी हुई है उसकी ढलवां छतों में भी टीन की चादरें बिछी हैं। प्रातःकाल के गृह-कार्य से निर्मुक्त स्त्रियां वृष्टिहीन दिनों में दिन के समय उनपर बैठती हैं और परस्पर सुख-दुःख की बातें करके अपना भार-ग्रस्त हृदय कुछ हल्का कर लेती हैं। मैं उनकी बातें सुनता हूं और उनमें बड़ी दिलचस्पी लेता हूं। मैं गृहस्थ जीवन से सदा वंचित हूं। सोचता हूं कि यदि इन स्त्रियों के गार्हस्थ्य-चक्र के सुख-दुःखों से किसी रूप में मैं भी संबद्ध हो जाता तो एक अन्-अनुभूत नये जीवन का स्वाद लेता। पर यह जानता हूं कि इस जन्म में यह सम्भव नहीं है।

एक प्रायः अठारह साल की मदमत्ता नवयुवती अपने उच्छल यौवन से तरंगित हुए शरीर के अंग-अंग की गति मुझे विशेष रूप से दिखलाने के लिए प्रति क्षण व्यस्त रहती है। कभी वह अपने निर्मुक्त केशों की बहार दिखलाकर, मंद-मंद मुस्कराकर मेरी ओर कुटिल दृष्टि से घूरती हुई ढलवां छत की रपटन में ऊपर से नीचे को लुढ़कती है, कभी किसी ज्येष्ठा युवती के सुन्दर बच्चे को बड़े प्यार से गोद में बिठाकर बार-बार उत्कट दुलार से उसका मुंह

डायरी के नीरस पृष्ठ

बाज़ार में टीन की ढलवां छतों से छाए हुए सब मकान एक-दूसरे से बिलकुल सटे हुए हैं। जिस भाड़े के मकान की दूसरी मंज़िल में मैं रहता हूं, उसका बाहर का कमरा केवल पांच फुट चौड़ा है। उसके बाद सीधे आगे की ओर बढ़ने पर जो कमरा मिलता है वह प्रायः आठ फुट चौड़ा और उतना ही लम्बा है, पर बिलकुल अंधकारमय है। इसी घुप अंधेरे कमरे के एक कोने में मेरी चारपाई लगी है। इसके आगे दो कमरे और हैं। एक में काठ-कबाड़ पड़ा है, दूसरे में रसोई होती है। इसके बाद एक छोटा-सा बरामदा है। अगल-बगल में कोई कमरा नहीं है। एक सरल रेखा में ये चार कमरे जुड़कर एक निवास-गृह के रूप में स्थित हैं।

श्रावण का महीना है। बहुत दिनों से सूर्य के दर्शन नहीं हुए हैं। निर्मल आकाश के दिन भी कभी मेरे चिरांधकारमय कमरे में प्रकाश नहीं होता, तिसपर यह बदली और उसपर भी नैनीताल का कुहरा। यह मौसम मेरी मानसिक परिस्थिति के अनुकूल है। विकल मोहाच्छन्न होकर घोर तामसिक छाया के आश्रय में दिन और रात अपनी चारपाई पर पड़ा-पड़ा मैं किन भ्रामक स्वप्नों में निमग्न रहता हूं।

दिन में मकान के सब बाबू लोग अपने-अपने दफ्तरों को चले जाते हैं। शून्य गृह से चारपाई में पड़ा-पड़ा जब उकता जाता हूं तो कमरे के बाहर मैं एक कुर्सी पर खिड़की के पास बैठकर बाज़ार में लोगों का आना-जाना देखता रहता हूं। हमारे मकान के ठीक नीचे एक अफीम और चरस की दुकान है। कांग्रेस की तरफ से पिकेटिंग के लिए वहां बारह-तेरह वर्ष के दो लड़के खड़े हैं। दोनों बड़े चुस्त-चालाक हैं। जो ग्राहक आता है उसे हाथ जोड़कर, देश की दुर्दशा की दुहाई देकर, नशे की अपकारिता पर लेक्चर बघारकर रोक रहे हैं। ग्राहकों में से अधिकांश भंगी, चमार, धोबी तथा अन्यान्य तथाकथित निम्न श्रेणी के ही आदमी हैं। लड़कों की कातर प्रार्थना से वे व्याकुल हैं, तथापि नशे की उत्कट लालसा से विताड़ित हैं। स्वराज्य के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी इस दुर्दान्त नशे को छोड़ना वे नहीं चाहते। उनके चेहरों के क्षुधार्त, पिपासित भावों से अनुमान करता हूं कि अपने निर्जीव, समाज-दलित, संसार-चक्र-निपीड़ित जीवन में केवल नशे के समय ही वे वास्तविक जीवन का

कुछ कृत्रिम आभास पाते हैं। यह प्रश्न बार-बार मेरे मस्तिष्क में आघात करता है कि उनका नशा छुड़ाने से क्या वास्तव में उनका हित होगा अथवा उनमें जीवन की जो कुछ भी चिनगारी अवशेष है वह भी बुझकर वे एकदम कोयले और राख की तरह जड़ बन जाएंगे ?

उनके प्रति सहानुभूति का एक और कारण भी है। अब मैं भी नशा करने लगा हूं। छब्बीस-सत्ताईस साल तक एकदम 'सात्विक' जीवन बिताकर अब तमाखू पीने लगा हूं, चाय के गुलाबी नशे में रंगने लगा हूं। इन दो चीज़ों के बिना मुझे तनिक चैन नहीं मिलता। मेरे एकाकी, निःसंग तामसिक जीवन में केवल ये ही दो सहृदय साथी मुझे बड़ी मुश्किल से प्राप्त हुए हैं। बहुत संभव है, अपने-आपको ठगता होऊं, पर इस आत्म-वंचना की भी इस समय मुझे परम आवश्यकता है।

रसोई के कमरे से लगा हुआ जो बरामदा है उसपर खड़े होकर कभी-कभी जब बाहर को नज़र दौड़ाता हूं तो सामने हरियाली से ढके हुए पहाड़ पर एक विचित्र चित्रमय जगत् मेरी आंखों के सामने से गुज़रता है। स्थान-स्थान पर छोटे-बड़े स्वच्छ, सुन्दर बंगले ऊपर-नीचे स्थित हैं। अपने बाज़ार वाले मकान के खटमलों की याद करके उन्हें देखकर जी ललचाता है। सामने सड़क के चौरस्ते पर लेक ब्रिज के नीचे से होकर झील का प्रवाह अतिवृष्टि के कारण मुक्त कर दिया गया है। उस जल-राशि का प्रवेग कठिन शिलाओं से टकराता हुआ दुग्धफेन से भी शुभ्र, धवल रूप धारण करके, गर्जन करता हुआ उद्दामवेग से नीचे को बहा चला जाता है। उसके जल-शीकर उछल-उछलकर पथिकों को मंत्रमुग्ध कर रहे हैं। नीचे मकानों की जो कतार लगी हुई है उसकी ढलवां छतों में भी टीन की चादरें बिछी हैं। प्रातःकाल के गृह-कार्य से निर्मुक्त स्त्रियां वृष्टिहीन दिनों में दिन के समय उनपर बैठती हैं और परस्पर सुख-दुःख की बातें करके अपना भार-ग्रस्त हृदय कुछ हल्का कर लेती हैं। मैं उनकी बातें सुनता हूं और उनमें बड़ी दिलचस्पी लेता हूं। मैं गृहस्थ जीवन से सदा वंचित हूं। सोचता हूं कि यदि इन स्त्रियों के गार्हस्थ्य-चक्र के सुख-दुःखों से किसी रूप में मैं भी संबद्ध हो जाता तो एक अन्-अनुभूत नये जीवन का स्वाद लेता। पर यह जानता हूं कि इस जन्म में यह सम्भव नहीं है।

एक प्रायः अठारह साल की मदमत्ता नवयुवती अपने उच्छल यौवन से तरंगित हुए शरीर के अंग-अंग की गति मुझे विशेष रूप से दिखलाने के लिए प्रति क्षण व्यस्त रहती है। कभी वह अपने निर्मुक्त केशों की बहार दिखलाकर, मंद-मंद मुस्कराकर मेरी ओर कुटिल दृष्टि से घूरती हुई ढलवां छत की रपटन में ऊपर से नीचे को लुढ़कती है, कभी किसी ज्येष्ठा युवती के सुन्दर बच्चे को बड़े प्यार से गोद में बिठाकर बार-बार उत्कट दुलार से उसका मुंह

चूमती है और बार-बार मेरी ओर ताकती है। क्यों मुझे वह इस तरह विकल करती है? अनोखी, उद्भट चिन्ताओं से ग्रस्त मेरे रूपहीन, शीर्ण, धोए कपड़े की तरह निःसत्व मुख में, पारलौकिक स्वप्नों से उद्दीप्त मेरी ऐनक से ढकी हुई आंखों में वह किस मोह का आकर्षण पाती है? हे मुग्ध पतंग! तुम्हारी यह पक्षताड़न-लीला वृथा है। मेरे हृदय में अब उतनी आंच नहीं कि तुम्हें जला सकूं।

अन्यान्य युवतियां भी जानती हैं कि मैं बरामदे में खड़ा हूं। इसलिए अनजान-सी बनने पर भी बीच-बीच में सहास्य, सस्नेह दृष्टि से मुझे घूर लिया करती हैं। उस सरस दृष्टि से मेरे हृदय में शारीरिक स्पर्श के-से सुख का अनुभव होता है। इन अपरिचित स्त्रियों के इस अज्ञात स्नेह को लेकर मैं भीतर जाकर कल्याणसिंह से एक चिलम तमाखू भरवाकर पीता हूं और फिर बाबू लोगों के दफ्तर से आने तक अंधेरे कमरे के अलौकिक, भौतिक स्वप्न-जगत् में निमग्न हो जाता हूं।

टीन की छतों के ऊपर दिन-रात निरन्तर झमाझम बरसता हुआ पानी एकतारा के स्वर में न मालूम किस लोरी का स्नेह-करुण-संगीत सुनाया करता है। उसके एक ताल की थपकियों से मेरा चिर-दुर्दान्त हृदय आजकल आश्चर्यमय इन्द्रजाल के जादू से कैसा शान्त सोया है! सोओ! हे मेरे विस्फूर्जित झटिका में उद्वेलित तरंगमय सागर! अब चिरशून्यमय शयन में सदा के लिए निश्चित होकर सोओ!

पर रात को खटमल सोने नहीं देते। बहुत देर तक करवटें बदलते-बदलते, सिर के बालों को विकट नारकीय यंत्रणा के कारण नोचते-नोचते जब चार बजे करीब आंखें झपने लगती हैं तब कुछ ही देर में प्रभात-फेरी के लिए अन्यान्य स्वयंसेविकाओं को जगानेवाली महिलाओं के हल्ले से नींद उचट जाती है। मैं सोचने लगता हूं कि इन उत्साहशील देश-प्रेमिकाओं के रक्त के प्रति खटमल महोदयगण क्यों विरक्त हैं, जो उन्हें रात-भर अच्छी तरह सोने देते हैं? मेरा ही रक्त क्या इन कद्रदानों को विशेष प्रिय मालूम हुआ है?

जब सब महिलाएं एकचित्त होकर देश-संगीत गाने लगती हैं तब हृदय में एक प्रकार की उत्सुकता पैदा होती है कि एक बार खिड़की से बाहर झांककर उनके दर्शन करूं। पर निद्रालस शरीर में गरम कम्बल को छोड़कर उठने की शक्ति नहीं होती। रोज उठने का इरादा करता हूं, लेकिन रोज उन देवियों के दर्शन से वंचित रहता हूं। पर नित्य के अभ्यास के कारण विशेष-विशेष स्त्रियों के विशेष-विशेष कंठस्वर से मेरे कान परिचित हो गए हैं। कुछ युवतियों का निद्रा-जड़ित स्वर नित्य वैसा ही सुनाई देता है। किसीका स्वर सूक्ष्म और ललित है, किसी पुरातन महिला का नवीन संगीत-प्रेम-जंतु-विशेष

के स्वर में विकट रूप से प्रकट होता है। इन स्पष्टतया भिन्न-भिन्न स्वरों को सुनकर मैं उन भिन्न-भिन्न महिलाओं की आकृतियों की कल्पना भी बिना देखे ही मन ही मन कर लिया करता हूं।

"कल्याणसिंह ! ए कल्याणसिंह !"

पर कल्याणसिंह मज़े में खुर्राटे भर रहा है। चार-पांच बार ज़ोर से पुकार, गला फाड़कर उसे जगाता हूं। वह झल्लाकर अर्द्धनिद्रावस्था में कहता है—"कौन है?" "अबे ! उठता नहीं, दिन चढ़ आया।" चारपाई पर पड़े-पड़े तमाखू की चाट मुझे सता रही है, इसलिए गुस्से को रोक नहीं पाता हूं। हल्ला सुनकर सुबह की मीठी नींद में विघ्न होते देखकर कोई एक बाबू उचककर बोल उठते हैं—सुबह-सुबह क्या गुल मचाया है ! ज़रा सोने भी न दोगे ! रात-भर खटमलों की वजह से आंख नहीं लगी। ज़रा आंखें झपने लगी थीं, कांग्रेस की बेहया छोकरियों ने आफत मचाई। अब इन हज़रत ने सारा मकान सर पर उठा लिया है !" बाबू की रुद्रवाणी सुनकर मुझे मन ही मन हंसी आती है। कल्याणसिंह को यदि इस समय न जगाया जाए तो बाबू के साढ़े नौ बजे उठने पर खाना तैयार न होने से हेडक्लर्क साहब की धमकी का खयाल करके जोश में आकर इस निर्दोष छोकरे पर दुलत्तियों की जो बौछारें की जाएंगी, मैं अच्छी तरह उनकी कल्पना कर रहा हूं।

अंगड़ाइयां लेता हुआ कल्याणसिंह उठता है। पर उठते ही उसके सारे शरीर में फुर्ती आ जाती है और यह तेरह वर्ष का लड़का दो बड़ी-बड़ी बालटियों को दोनों हाथों में लेकर बाहर पानी भरने जाता है और 'हुम्मां ! हुम्मां !' की आवाज़ करता हुआ काठ के विकट ज़ीने के ऊपर कठिनाई से चढ़कर भीतर आता है। इसके बाद मिनटों में वह आग जलाकर हुक्का तैयार कर देता है और सैकिंडों में तमाखू भरकर लाता है। हुक्का हाथ में लेते ही मेरे उल्लास का ठिकाना नहीं रहता और मैं तब त्रिभुवन में अपने को सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक सुखी पुरुष समझता हूं। बिस्तरे पर बैठे हुक्का गुड़गुड़ाने लगता हूं।

मेरी सारी दिनचर्या इस प्रकार है :

(१) प्रातःकाल नींद उचटने पर कल्याणसिंह को जगाना (२) बिस्तरे पर बैठे-बैठे हुक्का गुड़गुड़ाना (३) चाय (४) फिर हुक्का (५) अखबार बिस्तरे पर ही (६) इसके बाद चारपाई की माया त्यागकर स्नानादि क्रिया-समापन (७) प्रात-भोजन (८) तमाखू (९) एक घण्टे तक अफीम की दुकान में पिकेटिंग देखना (१०) चारपाई की शरण (११) रसोई की ओर जो बरामदा है उसपर से नीचे छतों पर बैठी हुई स्त्रियों का अवकाशानन्द जीवन-निरीक्षण (१२) तमाखू (१३) फिर ४-५ बजे शाम तक चारपाई

(१४) चाय (१५) तमाखू (१६) बाबू लोगों के क्लब में ताश (१७) लौटकर भोजन (१८) तमाखू (१९) बाबू लोगों के साथ गपशप (२०) शयन (२१) खटमल-स्पर्श-सुख का अनुभव।

नित्य-नित्य यही क्रियाचक्र पुनः-पुनः परिवर्तित होता रहता है। दो-तीन महीनों से इसमें बिलकुल भी बदलाव मैंने किसी दिन नहीं देखा। क्या इसी प्रकार का 'महत् जीवन' बिताने के लिए मैं संसार में आया हूं?

शाम को जब क्लब में ताश खेलने जाता हूं तब उस स्वच्छंद जीवन का तामसिक आनन्द मेरे हृदय में लहराने लगता है।

जिस मकान में यह 'ब्रिज क्लब' संस्थापित हुआ है उसकी छत वार-वनिताओं के मकान की छत से बिलकुल मिली हुई है। प्रतिदिन कोई न कोई वार-युवती किसी न किसी मेम्बर के साथ अवश्य ही वहां पहुंच जाती है। खादी की फूलदार साड़ी से सुशोभित किसी-किसी अलबेली वारांगना का मोहक रूप कभी-कभी हृदय में एक स्निग्ध, मधुर वेदना जागरित कर देता है। विलासवती ललना को अपनी बगल में बैठाकर जब कोई युवक मेरा पार्टनर बनकर ताश खेलता है और ताश के 'ऑक्शन' की बोली बोलने में अपनी सखी की राय लेता है तब मैं अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक उस विश्व-जन की प्रिया की ओर ताकता रह जाता हूं। इतने निकट होने पर भी वह मुझसे इतनी दूर है और मैं उससे इतना अपरिचित हूं! पर अन्यान्य मेम्बरों के हृदय से वह कितनी परिचित है! अपने परिचित सखाओं के साथ वह मधुर हास्य से बातें करती हैं, पर मेरी ओर अपनी दो प्यारी-प्यारी विस्मय-भरी आंखों से ताकती है। शायद वह मेरे अंतस्तल में डुबकियां लगाने की बहुत चेष्टा करती हैं, किन्तु कहीं थाह न पाकर फिर-फिर उसकी दृष्टि लौट आती है।

"टू हार्ट्स!"

"थ्री क्लब्स!", "टू नो ट्रंप्स!"

इस प्रकार ताबड़तोड़ बोलियां बोली जा रही हैं और खेल जमने लगता है। गेम पर गेम, रबर पर रबर समाप्त होते जाते हैं और जुए के इस चित्ताकर्षक खेल में तल्लीन होने के कारण हम लोग उस ललित ललना को और दीन-दुनिया को भी भूल जाते हैं। अन्त को प्रत्येक व्यक्ति की हार-जीत औसतन पांच-छः रुपये की होती है।

कभी-कभी हम चोरी-छिपे विशुद्ध जुए के खेल में मस्त हो जाते हैं। अपनी जमा को खतरे में डालकर दूसरे की जमा की घात में रहने में कैसा अपूर्व आनन्द मिलता है। संत लोगों को इस आनन्द का रस कैसे समझाया जाए।

मैं जानता हूं कि दुनिया मेरे पतन पर हंसती है और अत्यन्त घृणा से मेरी

ओर से मुंह फिरा रही है। पर भाग्य ने तो मुझे जन्म का जुआरी बना रखा है। प्रकृति की गांठ से जिस अव्यक्त आनन्द को प्राप्त करने के लिए मैंने अपना सारा जीवन दांव में रक्खा था उसके कारण आज सब खोए बैठा हूं। मुझ फक्कड़ को अब लोक-लाज से मतलब ?

पर संसार मुझसे चाहता क्या है ? बूंद-बूंद करके उसने मेरा खून चूस रक्खा है, तिल-तिल करके मेरा सम्मान और गौरव उसने विनष्ट कर दिया है, उसने चाहा है कि मैं अपने गर्वोन्नत मस्तक को झुकाकर मिट्टी में मिलाऊं। अब जब मैं उसीके साथ एक समतल में चलने लगा हूं तो उसे क्या अधिकार है कि वह मुझे अपने से नीचा समझे और घृणा की दृष्टि से देखे ?

असल बात यह है कि अब मैंने अपनी इच्छा-शक्ति बिलकुल दबा दी है। जिस बहाव में जाता हूं, उसीमें बह जाता हूं। किसी बात के प्रति मेरे हृदय में घृणा नहीं है, किसी विशेष विषय की उसमें चाह नहीं है. निर्द्वन्द्व, उल्लासमय, संसार-चक्र की चिंता से रहित जो कोई भी जीवन जहां कहीं भी मुझे मिलता है, उसीको अपनाता हूं। तुम क्या अफीमची या गंजेड़िया हो ? आओ, आओ भाई, आओ ! तुमसे मेरी पूरी महानुभूति है। तुम क्या जुआरी हो ? संसार की चिंता भूलकर इस खतरनाक मैदान में प्रज्वर आवेग से निर्द्वन्द्व आ कूदे हो ? आओ ! आओ ! मैं तुम्हारा अन्त तक साथ दूंगा। तुम क्या वेश्यासक्त हो ? लालसामय रूप की लास्य चिन्ताग्नि में मुग्ध पतंग की तरह अपने प्राणों की आहुति देने के लिए लालायित हुए हो ! आओ ! आओ ! मेरे प्यारे भाई ! अपने साथ मुझे भी उस विकराल ज्वाला के ताप का अनुभव कराओ। तुम क्या मद्यपायी हो ? संसार के कठिन जीवन-बंधन से तंग आकर स्वच्छन्द जीवन के लिए मतवाले हो उठे हो ? और निश्चिन्त होकर मृत्यु के अंधकूप की ओर लुढ़कते चले जाते हो ? हे प्रिय सखा ! मुझे भी अपने साथ ढकेल ले चलो।

अभ्यासवश नित्य अखबार पढ़ता हूं। मालूम होता है कि मेरी केन्द्र-परिधि की चारों ओर दुनिया बेहतर व्यस्त हो उठी है। पर क्यों ? किसलिए ? किस महाशून्य की ओर वह दौड़ रही है, इस बात का ठीक अंदाज़ लगाना मेरे लिए कठिन है। सारी दुनिया को घोर कर्मों में निरत देख रहा हूं। ऐसा अनुभव करता हूं जैसे अर्द्धरात्रि में कोई विकट अर्थहीन स्वप्न देखता होऊं।

पानी ! पानी ! पानी ! तीन दिन से लगातार पानी बरस रहा है। आज डेढ़-दो घंटे के लिए कुछ शांति हुई थी, अब फिर तीक्ष्ण धारापात आरम्भ हो गया है।

"कल्याणसिंह ! ज़रा बाहर की खिड़की बन्द कर दे। भीतर

रहा है।

आटा गूंधना छोड़कर गीले हाथों से कल्याणसिंह आता है और दरवाज़ा बन्द कर देता है।

"एक चिलम तमाखू भर जाना।" यह आदेश देकर मैं अपने अंधकार-मय कमरे में जाकर निखिल विश्व से अलग इस निराले कोने में चारपाई पर परम आराम से लेट जाता हूं।

सारा कमरा धुएं से भर गया है। एक सरल रेखा में एक कमरे से दूसरे कमरे की ओर आगे बढ़ने के सिवा इस अभागे धुएं के लिए और कोई मार्ग भी तो नहीं है। बाबू लोगों के दफ्तर से आने का समय आ पहुंचा है, इसलिए कल्याणसिंह जलपान तैयार करने में लगा है।

ऊपर मकानवाले की स्त्री और लड़कियों के पैरों से धमाधम आवाज़ हो रही है, और टीन की छतों पर झमाझम पानी बरस रहा है। मैं एक मोहाच्छन्न, शान्त सुखालस का अनुभव कर रहा हूं। काठ की दीवार के परे जो बाबू रहते हैं वहां से स्पष्ट शब्द सुनाई देता है।

कल्याणसिंह चिलम में जलती हुई आग पर हाथ रखकर उसे निर्विकार भाव से फूंकता हुआ आता है। इस अंधेरे कमरे में आग के प्रकाश से उसका गोरा मुंह तमतमाया हुआ दिखाई देता है। मैं उठ बैठता हूं और अत्यन्त धैर्य-पूर्वक धुआं उगलता हुआ उसका रसास्वादन करता हूं।

थोड़ी देर में एक रकाबी पर गरम-गरम आलूदम रखकर वह मेरे पास लाता है। पशुतुल्य आनन्द से मैं आंखें मूंदकर परम तृप्ति से उन्हें खाने लगता हूं। फिर एक कप चाय पीकर पुनः धूम्र-सेवा करता हूं और अपने को राकफेलर या हेनरी फोर्ड से कई गुना अधिक धन्य समझता हूं। पशु-जीवन की जिस सरल, अलस शान्ति का अनुभव इस समय मैं कर रहा हूं उसका अनुभव क्या उक्त घोर कर्मज्वर-विताड़ित, अनन्त धन-लालसामत्त सेठों को कभी स्वप्न में भी हो सकता है?

असल बात यह है कि वे एक चरम सीमा पर पहुंचे हैं और मैं दूसरे चरम सिरे पर। हम दोनों की ही आत्माएं रोग-ग्रस्त हैं। वे अपनी जर्जरित आत्मा के ज्वर की तीव्र वेदना को तीक्ष्णता से अनुभव कर रहे हैं, और मैं मीठे पर घातक ज्वर के गुलाबी नशे से मधुर मोह की निद्रा की क्रोड़ में झूम रहा हूं। वे सन्नि-पात-ग्रस्त हैं और मैं क्षय रोग से विकल हूं।

पर यह क्या! अलौकिक तान में यह बांसुरी कहां बजती है! किस पहाड़ के ऊपर से होकर कैसी उन्माद-ग्रस्त अलौकिक स्वर-लहरी मेरे कानों में आकर झंकृत होती है? क्यों मेरे स्तब्ध हृदय की सुप्त चेतना अकस्मात् तिलमलाने लगी है? अपरिचित पथिक! सुख की नींद में सोए हुए मेरे उन्मत्त यौवन को

तथा प्रवेगमय नवीन जीवन की भावनाओं को मत जगाओ। मेरे मानस के हंस को कमल-दल की पंकिलता में ही विचरने दो, सुदूर हिमालय की उन्मुक्तता की ओर इसे आकर्षित मत करो।

बांसुरी की उज्ज्वलता, मीठी वेदना उल्कापात की तरह मेरे अंधकारमय हृदय में क्षणिक उल्लास संचरित करती हुई शून्य में विलीन हो गई। क्षण-भर के लिए पूर्व-परिचित, विस्तृत स्वर्ग के चैतन्य का अनुभव करके मैं फिर अपने वर्तमान नरक के पंक में निपतित होकर दुर्गन्ध में सड़ रहा हूं।

बाबू लोग आए और सैर करने चले गए। आज ताश के अड्डे में जाने की तनिक भी इच्छा नहीं होती। चारपाई पर लेटा-लेटा नाना उद्भ्रांत अर्थ-हीन स्वप्नों का जाल बुन रहा हूं। वर्षा शायद बन्द हो गई है—टीन की छतों पर पानी बरसने का शब्द नहीं सुनाई देता। बाहर संध्या का अंधकार घनीभूत होने लगा है—ऐसा जान पड़ता है। झींगुरों की झनकार एक स्वर में लोरी गाकर इस शान्त, अंधकार, निवास-गृह को मधु-मूर्च्छा से मग्न कर रही है। भीतर शायद कल्याणसिंह भी नहीं है। वह संभवतः बाज़ार में कुछ सामान खरीदने गया है। विह्वल मोह से स्तब्ध अपने कमरे में मैं संसार के लोगों द्वारा निर्वासित और भाग्य-चक्र द्वारा विताड़ित जीव विकल अकेला पड़ा हूं। कौन मेरे लिए रोएगा?

छम-छम······छमाछम !

पिछवाड़े के रास्ते से कोई स्त्री काठ के ज़ीने से होकर ऊपर चढ़ रही होगी। पांव के बिछुओं का वह मंद-मंद मधुर स्वर रसोई के बरामदे में आ पहुंचता है। मकान मालिक के यहां की कोई स्त्री ऊपर को जाती होगी।

पर बहुत देर तक इस प्रायांधकार संध्या के समय एक अस्पष्ट छाया बरामदे से भीतर पड़ी हुई दिखलाई देती है। मुझे उत्सुकता होती है, पर उठ नहीं सकता।

कल्याणसिंह बाज़ार से आता है।

"ज़रा देखना तो भाई, बाहर कौन खड़ा है?"

वीणा के निनाद से भी एक मधुर स्त्री-कंठ कल्याणसिंह को सम्बोधित करता है। कल्याणसिंह उत्तर देता है—"हां, भीतर ही हैं। चारपाई पर लेटे हैं।"

"छम-छम-छम !"

यह क्या? भीतर कौन आता है? इस स्त्रीहीन निवासगृह में इस संध्या के समय वह कौन अपरिचित स्त्री मेरी फिराक में चली आ रही है! मेरे आश्चर्य, कौतूहल और आशंका की सीमा नहीं रहती। अपने बायें हाथ को तकिये पर अड़ाकर लेटे-लेटे उसपर अपना बायां गाल स्थापित करके सचेत हो

जाता हूं।

"भैया! लेटे हो क्या? तबीयत क्या कुछ खराब है?"

यह परिचित कंठस्वर किसका है? मैं व्यस्त होकर उठ बैठता हूं। अंधेरे में चेहरा ठीक पहचाना नहीं जाता।

क्या कहूं, कहां बिठाऊं, कुछ समझ में नहीं आता।

"कल्याणसिंह! लालटेन जलाकर जल्दी ले आ।···माफ करना, मैंने पहचाना नहीं! बैठ जाओ, रोशनी आती है।"

वह फर्श पर कालीन के ऊपर बैठ जाती है। कल्याणसिंह बत्ती जलाकर लाता है। चौंककर देखता हूं कि मेरे प्रथम जीवन से प्रतिपल की संगिनी मोहिनी दुबककर बैठी है। उसका विवाह होने पर सिर्फ एक बार उसे देखा था। उसके बाद आज बहुत वर्षों में अचानक अंधेरे कमरे में इस वर्षा-संध्या के समय वह दिखाई दी। कब, कहां, किस जन्म में ठीक किस अवसर पर किससे भेंट होगी, अदृष्ट भाग्य निर्दिष्ट इस रहस्य की बात कोई नहीं कह सकता।

उसके मुख के गठन में, आंखों की भाव-व्यंजना में अनेक परिवर्तन हो गए हैं, पर उसके अन्तस्तल की एक सूक्ष्म विशेषता अब भी वैसी ही अभिव्यक्त हो रही है, जैसी किशोरावस्था में थी।

"मोहिनी, तुम यहां कहां! आज कैसे यहां आ पड़ी हो? मेरा पता तुम्हें कैसे लगा?"

आकस्मिक, अप्रत्याशित आनन्द से उत्तेजित होकर तीन प्रश्न मैंने साथ ही किए। अपने उल्लास को बहुत दबाने की चेष्टा की, पर पूर्ण सफल नहीं हुआ।

वह बोली—"मैं तो आज सात साल से यहीं हूं। नीचे जो बाबू रहते हैं, उनके यहां आया-जाया करती हूं। उनकी स्त्री से पता चला कि तुम एक महीने से नैनीताल आए हो। उन्हींसे मालूम हुआ कि यहां रहते हो। अल्मोड़े में सब कुशल तो हैं, भैया? तुम्हारी तबीयत क्या खराब है?"

वह अत्यन्त गम्भीर होकर, सयानी स्त्रियों की तरह बोल रही है। उसकी शांत स्थिरता और रुखाई देखकर मेरा उत्साह बहुत ढीला पड़ता जाता है। अब वह चंचला किशोरी नहीं रह गई थी। ऐसा मालूम होता था कि मातृत्व की आंच से तपकर उसका हृदय सुदृढ़ बन गया है। आज एक बिलकुल नया, अपूर्व-परिचित सौंदर्य लेकर वह मेरे सामने उपस्थित थी।

मैं तकिये पर हाथ रखकर लेट जाता हूं और लेटे-लेटे उससे बातें करने लगा हूं। प्रारम्भ में वह कुछ सकुचाई-सी थी। धीरे-धीरे खुलकर बोलने लगती है।

चारपाई पर लेटने के आनन्द से मुझसे बढ़कर कोई परिचित नहीं होगा.

पर मुझे भी लेटने में ऐसा सुखालस कभी प्राप्त नहीं हुआ, जैसा इस समय हो रहा है। मैं सोचता हूं कि निखिल प्रकृति का एकमात्र राजा मैं ही हूं और मेरी एकमात्र रानी नीचे बैठी है। मेरे घर के और अपने मैके के सम्बन्ध में वह अनेकानेक प्रश्न करती है। अनेक वर्षों के बाद अपने प्रथम जीवन की मधुर स्मृतियां एक नये रूप में एक-एक करके मेरे हृदय में उदित होकर जुगनुओं की तरह जगमग-जगमग कर रही थीं। उसके साथ मेरे कैसे उल्लास, कैसी आशा के दिन बीते थे! जन्माष्टमी, दशहरा, दीपावली आदि उत्सव कैसे उत्सुक आनन्द सहित मैंने उसके साथ बिताए थे! अन्तिम वर्षा के समय अल्मोड़े में नंदादेवी की पूजा के अवसर पर बड़ा मेला लगता है। स्थान-स्थान से किसान लोग बांके-रसीले बनकर वहां जमा होते हैं। उस समय खेती का काम न होने से अपने उल्लासपूर्ण पार्वतीय हृदय से निर्द्वन्द्व आनन्द से नाचते-गाते हैं। बचपन में प्रतिवर्ष हम दोनों उस मेले के आगमन के लिए बहुत पहले से उत्सुक रहा करते थे। मेले के अवसर पर हम दोनों साथ ही अत्यन्त उल्लास के साथ उस लोकारण्य में सम्मिलित होते थे और विशेष रुचिपूर्वक उन निर्मुक्त आनन्द-लीला का रस लेते थे। वे सब स्मृतियां मुझे विकल करने लगती हैं। शायद उसका भी यही हाल है। मैं ऐसा महसूस करता हूं जैसे मेरे पूर्व जन्म की प्रिया युगों के बिछोह के बाद भावी जन्म में मुझसे आ मिली है। जैसे वर्तमान जन्म से मेरा कोई सम्बन्ध ही नहीं है!

प्राय: एक घण्टे तक वह मेरे पास बैठी रही। फिर बोली—"अब चलती हूं। बच्चे नीचे बहुत देर से मेरे इंतज़ार में बैठे होंगे।"

बच्चे! तब मेरा अनुमान ठीक ही था। उसका मातृत्व उसकी आंखों की सरस वेदनामय छाया से स्पष्ट झलकता था।

मैंने कहा—"उन्हें यहां क्यों नहीं लाईं? मेरे मन में बड़ी उत्सुकता पैदा हो गई है। मैं क्या उन्हें खा डालता? तुम्हारी बुद्धि क्या अब तक वैसी ही पत्थर बनी है?" मुझे अभिमानवश बेतरह गुस्सा आ रहा था।

"आज देर हो गई है। एक दिन फिर कभी बच्चों को लेकर आऊंगी भैया!" कहकर वह धीरे-धीरे वापस चली जाती है।

जाओ! जाओ! हे नारी! इस स्वार्थपूर्ण संसार में मैं कभी यह आशा नहीं कर सकता कि तुम हम दोनों के बाल्यकाल के स्नेह के नाते मेरे जटिल चक्रमय हृदय की वेदना को समझने की चेष्टा करोगी। मेरा यह हृदय एक विशेष प्रकार के आग्नेयगिरि के समान प्रकट में शांत दिखाई देता है, पर भीतर अंतराग्नि से अत्यन्त क्षुब्ध और प्रपीड़ित है। अपने शांत-हृदय पति और बाल-बच्चों को लेकर तुम स्निग्ध गार्हस्थ्य जीवन की मनमोहिनी माया से मंत्रमुग्ध हो। अपने अन्त:करण के संस्कारवश मेरे हृदय की ज्वलन्त आंच

जाता हूं।

"भैया ! लेटे हो क्या ? तबीयत क्या कुछ खराब है ?"

यह परिचित कंठस्वर किसका है ? मैं व्यस्त होकर उठ बैठता हूं। अंधेरे में चेहरा ठीक पहचाना नहीं जाता।

क्या कहूं, कहां बिठाऊं, कुछ समझ में नहीं आता।

"कल्याणसिंह ! लालटेन जलाकर जल्दी ले आ।···माफ करना, मैंने पहचाना नहीं ! बैठ जाओ, रोशनी आती है।"

वह फर्श पर कालीन के ऊपर बैठ जाती है। कल्याणसिंह वत्ती जलाकर लाता है। चौंककर देखता हूं कि मेरे प्रथम जीवन से प्रतिपल की संगिनी मोहिनी दुबककर बैठी है। उसका विवाह होने पर सिर्फ एक बार उसे देखा था। उसके बाद आज बहुत वर्षों में अचानक अंधेरे कमरे में इस वर्षा-संध्या के समय वह दिखाई दी। कब, कहां, किस जन्म में ठीक किस अवसर पर किससे भेंट होगी, अदृष्ट भाग्य निर्दिष्ट इस रहस्य की बात कोई नहीं कह सकता।

उसके मुख के गठन में, आंखों की भाव-व्यंजना में अनेक परिवर्तन हो गए हैं, पर उसके अन्तस्तल की एक सूक्ष्म विशेषता अब भी वैसी ही अभिव्यक्त हो रही है, जैसी किशोरावस्था में थी।

"मोहिनी, तुम यहां कहां ! आज कैसे यहां आ पड़ी हो ? मेरा पता तुम्हें कैसे लगा ?"

आकस्मिक, अप्रत्याशित आनन्द से उत्तेजित होकर तीन प्रश्न मैंने साथ ही किए। अपने उल्लास को बहुत दबाने की चेष्टा की, पर पूर्ण सफल नहीं हुआ।

वह बोली—"मैं तो आज सात साल से यहीं हूं। नीचे जो बाबू रहते हैं, उनके यहां आया-जाया करती हूं। उनकी स्त्री से पता चला कि तुम एक महीने से नैनीताल आए हो। उन्हींसे मालूम हुआ कि यहां रहते हो। अल्मोड़े में सब कुशल तो हैं, भैया ? तुम्हारी तबीयत क्या खराब है ?"

वह अत्यन्त गम्भीर होकर, सयानी स्त्रियों की तरह बोल रही है। उस[illegible] शांत स्थिरता और रुखाई देखकर मेरा उत्साह बहुत ढीला पड़ता जा[illegible] अब वह चंचला किशोरी नहीं रह गई थी। ऐसा मालूम होता था कि[illegible] की आंच से तपकर उसका हृदय सुदृढ़ बन गया है। आज एक विलक्[illegible] अपूर्व-परिचित सौंदर्य लेकर वह मेरे सामने उपस्थित थी।

मैं तकिये पर हाथ रखकर लेट जाता हूं और लेटे-लेटे उससे [illegible] लगा हूं। प्रारम्भ में वह कुछ सकुचाई-सी थी। धीरे-धीरे खुलकर बो[illegible] है।

चारपाई पर लेटने के आनन्द से मझसे बढकर कोई परिचित[illegible]

के पास फटकना भी न चाहोगी, यह तो जानी हुई बात है।

उसके बाल-बच्चों के प्रति मेरे हृदय में जो एक लोभप्रद मोह का भाव क्षण में उत्पन्न हो गया था, वह पल में उसी तरह विलीन भी हो गया। मैंने फिर अपने गहन मन के भौतिक चक्रव्यूह के भीतर प्रवेश कर लिया।

आज आकाश एकदम नीले कांच के समान परिष्कार-परिच्छन्न है। सुनहली धूप से पृथ्वी मनोहर रूप धारण किए है। झील की दोनों तरफ दोनों सड़कों से होकर अलबेली स्त्रियां रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर आ रही हैं। और जा रही हैं। आज शायद कोई उत्सव का दिन है। इधर मेघमुक्त दिवस में प्राकृतिक उत्सव चल रहा है, उधर संसार के नित्य कर्मों से मुक्त दिवस में सांसारिक नर-नारियों का आनन्द व्यक्त हो रहा है। मेरी आंखों के सामने एक अर्थहीन रंगीन स्वप्न की माया फैली हुई है। मृत्यु के इस पार से आज अनेक दिनों के बाद मुझे जीवन के लिए रोने की इच्छा हुई है। पर जानता हूं कि रोना भी स्वप्नमयी माया की तरह ही व्यर्थ है। आज अवकाश पाकर मैं यह सोच रहा हूं कि मैं कौन हूं? पागल हूं? प्रेतात्मा हूं? छाया हूं? स्वप्न हूं? क्या हूं? मेरी आंखों के सामने संसार के जो ये सब जीव उठते-बैठते हैं, आते-जाते हैं, खाते-पीते हैं, प्रतिदिन के सुख-दुःख की वेदना अनुभव करते हैं, उनसे क्यों आत्मा का अणुमात्र भी संयोग मुझे अनुभूत नहीं होता?

सब झूठा है! सब झूठ है! ये सब जीव भी मिथ्या हैं, मैं भी मिथ्या हूं! वृष्टि का दिन भी असत्य है और आज की सुनहली धूप भी काल्पनिक है! जीवन का रंगीन स्वप्न भी एक भ्रामक माया है और मृत्यु? तब क्या केवल एक मृत्यु ही सत्य है? नहीं! नहीं! वह भी मेरे लिए सत्य नहीं है। बुनो! बुनो! हे असत्य! मेरी आत्मा के चारों ओर प्रतिपल जीवन-मृत्यु के ताने-बाने से मायामय जाल बुनते चले जाओ!

सोचते-सोचते क्लांति का अनुभव कर रहा हूं। आंखें झपकने लगी हैं। चिर-प्रिय चारपाई में जाकर लेट जाता हूं। हुक्के की याद आती है। कल्याणसिंह को पुकारता हूं।

थोड़ी देर बाद कल्याणसिंह हुक्का हाथ में लिए आता है। चारपाई में लेटे-लेटे गुड़गुड़ाता हूं। दो ही फूंक में अलौकिक अनुभूति का संचार होने लगता है। सोचता हूं कि यह हुक्का ही परम सत्य है। चारपाई में इसी तरह झूमते-झूमते चिरकाल तक लेटे रहना ही परम निर्वाण है। पर बीच-बीच में दो-एक खटमल जिस अवर्णनीय चैतन्य का संचार कर रहे हैं उससे निर्वाण का स्वप्न भी भंग होने लगता है।

बदला

उसे कोई 'जैन' कहता था कोई 'जैक'। पर वह न तो जैन था (वास्तव में वह कट्टर हिन्दू था) और न वह जैक ही था। उसके असली नाम भी दो थे, एक जनार्दन था दूसरा जयनारायण। जैक उसका नाम शायद इसलिए पड़ गया कि वह टामियों का बहुत बड़ा प्रशंसक था। और जैन शायद जयनारायण से बिगड़कर बना था। उसके जीवन की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा यह थी कि वह एक हवलदार बनकर किसी टामी अफसर की सेवा करता रहे। वह अक्सर टामियों के लहजे में ऊटपटांग अंग्रेज़ी बोलने का अभ्यास करता रहता था, यद्यपि वह अंग्रेज़ी का एक शब्द भी पढ़ना नहीं जानता था। उसका जन्म एक कुलीन घराने में हुआ था और उसकी बिरादरी के अधिकांश व्यक्ति शिक्षित थे और उनमें से कई अच्छे पदों पर नौकर थे। पर उसने बहुत छोटी कक्षा से ही पढ़ना छोड़ दिया था। छुटपन में ही वह गांव से शहर में आ बसा था, पर अपने पढ़ने की सुविधा वह तब भी न जुटा सका। उसके न पढ़ने में आर्थिक कारण भी शायद किसी हद तक रहा हो, पर सबसे बड़ा कारण था उसका विचित्र खामखयालियों से भरा सनकी स्वभाव।

उसके स्वभाव में अस्थिरता इस हद तक वर्तमान थी कि एक क्षण वह पागल बनने का स्वांग रचकर, जानबूझकर कही गई बेमेल और अर्थहीन बातों से सबको हंसाता था और दूसरे ही क्षण अकारण ही किसीपर क्रुद्ध होकर ऐसी विकट गंभीर मुद्रा बना लेता था कि देखकर भय मालूम होने लगता था। केवल उसकी प्रकृति ही वैचित्र्यपूर्ण नहीं थी, बल्कि उसकी आकृति भी कुछ कम असाधारण नहीं थी। बहुत छोटी उम्र से ही उसके कपाल में और गालों में झुर्रियां पड़ गई थीं। उसके बत्तीस दांतों में से कोई दो दांत समान नहीं थे। बीच के दो दांत बहुत लम्बे और शूकर के दांतों की तरह बाहर को निकलते हुए थे। अन्तर केवल यह था कि शूकर के दांत बहुत स्वच्छ, शुभ्र और सामंजस्यपूर्ण होते हैं, पर जैन भैया के उन दोनों बाहर को निकले हुए दांतों में बराबर नीले और पीले रंग की मिश्रित काई जमी रहती थी और उनमें समानता नहीं थी। छुटपन से ही वह दांत साफ करने के विरोध में थे। इन सब कारनामों से उसकी आकृति भयावनी लगती थी। कम से कम मैं छुटपन में उससे बहुत डरता था। उसे देखते ही मेरा शिशु मन

के पास फटकना भी न चाहोगी, यह तो जानी हुई बात है।

उसके बाल-बच्चों के प्रति मेरे हृदय में जो एक लोभप्रद मोह का भाव क्षण में उत्पन्न हो गया था, वह पल में उसी तरह विलीन भी हो गया। मैंने फिर अपने गहन मन के भौतिक चक्रव्यूह के भीतर प्रवेश कर लिया।

आज आकाश एकदम नीले कांच के समान परिष्कार-परिच्छन्न है। सुनहली धूप से पृथ्वी मनोहर रूप धारण किए है। झील की दोनों तरफ दोनों सड़कों से होकर अलबेली स्त्रियां रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर आ रही हैं। और जा रही हैं। आज शायद कोई उत्सव का दिन है। इधर मेघमुक्त दिवस में प्राकृतिक उत्सव चल रहा है, उधर संसार के नित्य कर्मों से मुक्त दिवस में सांसारिक नर-नारियों का आनन्द व्यक्त हो रहा है। मेरी आंखों के सामने एक अर्थहीन रंगीन स्वप्न की माया फैली हुई है। मृत्यु के इस पार से आज अनेक दिनों के बाद मुझे जीवन के लिए रोने की इच्छा हुई है। पर जानता हूं कि रोना भी स्वप्नमयी माया की तरह ही व्यर्थ है। आज अवकाश पाकर मैं यह सोच रहा हूं कि मैं कौन हूं? पागल हूं? प्रेतात्मा हूं? छाया हू? स्वप्न हूं? क्या हूं? मेरी आंखों के सामने संसार के जो ये सब जीव उठते-बैठते हैं, आते-जाते हैं, खाते-पीते हैं, प्रतिदिन के सुख-दुःख की वेदना अनुभव करते हैं, उनसे क्यों आत्मा का अणुमात्र भी संयोग मुझे अनुभूत नहीं होता?

सब झूठा है! सब झूठ है! ये सब जीव भी मिथ्या हैं, मैं भी मिथ्या हूं! वृष्टि का दिन भी असत्य है और आज की सुनहली धूप भी काल्पनिक है! जीवन का रंगीन स्वप्न भी एक भ्रामक माया है और मृत्यु? तब क्या केवल एक मृत्यु ही सत्य है? नहीं! नहीं! वह भी मेरे लिए सत्य नहीं है। बुनो! बुनो! हे असत्य! मेरी आत्मा के चारों ओर प्रतिपल जीवन-मृत्यु के ताने-बाने से मायामय जाल बुनते चले जाओ!

सोचते-सोचते क्लांति का अनुभव कर रहा हूं। आंखें झपकने लगी हैं। चिर-प्रिय चारपाई में जाकर लेट जाता हूं। हुक्के की याद आती है। कल्याणसिंह को पुकारता हूं।

थोड़ी देर बाद कल्याणसिंह हुक्का हाथ में लिए आता है। चारपाई में लेटे-लेटे गुड़गुड़ाता हूं। दो ही फूंक में अलौकिक अनुभूति का संचार होने लगता है। सोचता हूं कि यह हुक्का ही परम सत्य है। चारपाई में इसी तरह झूमते-झूमते चिरकाल तक लेटे रहना ही परम निर्वाण है। पर बीच-बीच में दो-एक खटमल जिस अवर्णनीय चैतन्य का संचार कर रहे हैं उससे निर्वाण का स्वप्न भी भंग होने लगता है।

बदला

उसे कोई 'जैन' कहता था कोई 'जैक'। पर वह न तो जैन था (वास्तव में वह कट्टर हिन्दू था) और न वह जैक ही था। उसके असली नाम भी दो थे, एक जनार्दन था दूसरा जयनारायण। जैक उसका नाम शायद इसलिए पड़ गया कि वह टामियों का बहुत बड़ा प्रशंसक था। और जैन शायद जयनारायण से बिगड़कर बना था। उसके जीवन की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा यह थी कि वह एक हवलदार बनकर किसी टामी अफसर की सेवा करता रहे। वह अक्सर टामियों के लहजे में ऊटपटांग अंग्रेज़ी बोलने का अभ्यास करता रहता था, यद्यपि वह अंग्रेज़ी का एक शब्द भी पढ़ना नहीं जानता था। उसका जन्म एक कुलीन घराने में हुआ था और उसकी बिरादरी के अधिकांश व्यक्ति शिक्षित थे और उनमें से कई अच्छे पदों पर नौकर थे। पर उसने बहुत छोटी कक्षा से ही पढ़ना छोड़ दिया था। छुटपन में ही वह गांव से शहर में आ बसा था, पर अपने पढ़ने की सुविधा वह तब भी न जुटा सका। उसके न पढ़ने में आर्थिक कारण भी शायद किसी हद तक रहा हो, पर सबसे बड़ा कारण था उसका विचित्र खामखयालियों से भरा सनकी स्वभाव।

उसके स्वभाव में अस्थिरता इस हद तक वर्तमान थी कि एक क्षण वह पागल बनने का स्वांग रचकर, जानबूझकर कही गई बेमेल और अर्थहीन बातों से सबको हंसाता था और दूसरे ही क्षण अकारण ही किसीपर क्रुद्ध होकर ऐसी विकट गंभीर मुद्रा बना लेता था कि देखकर भय मालूम होने लगता था। केवल उसकी प्रकृति ही वैचित्र्यपूर्ण नहीं थी, बल्कि उसकी आकृति भी कुछ कम असाधारण नहीं थी। बहुत छोटी उम्र से ही उसके कपाल में और गालों में झुरियां पड़ गई थीं। उसके बत्तीस दांतों में से कोई दो दांत समान नहीं थे। बीच के दो दांत बहुत लम्बे और शूकर के दांतों की तरह बाहर को निकलते हुए थे। अन्तर केवल यह था कि शूकर के दांत बहुत स्वच्छ, शुभ्र और सामंजस्यपूर्ण होते हैं, पर जैन भैया के उन दोनों बाहर को निकले हुए दांतों में बराबर नीले और पीले रंग की मिश्रित काई जमी रहती थी और उनमें समानता नहीं थी। छुटपन से ही वह दांत साफ करने के विरोध में थे। इन सब कारनामों से उसकी आकृति भयावनी लगती थी। कम से कम मैं छुटपन में उससे बहुत डरता था। उसे देखते ही मेरा शिशु मन

आतंकित हो उठता था। लगता था जैसे वह किसी भी समय किसी बच्चे की हत्या अत्यन्त निर्मम रूप से कर सकता है। उसके मुख की अभिव्यक्ति ऐसी क्रूर और निष्करुण थी! पर भय मालूम होने पर भी मुझे उसका व्यक्तित्व ऐसा कौतूहलोत्पादक लगता था कि दूर से उसकी प्रत्येक गतिविधि में बड़ी दिलचस्पी लिया करता था।

एक दिन मुझे पता चला कि वह मुहल्ले के एक प्रसिद्ध धनिक के यहां नौकरी करने लगा है। पहले मुझे इस बात पर विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि जिस दिन मैंने वह समाचार सुना, उसके ठीक एक दिन पूर्व रात के समय मैं उसे उन्हीं धनिक महोदय को गला फाड़-फाड़कर बेहूदी गालियां देते सुन चुका था। वह रात के सन्नाटे में इस कदर चिल्लाकर गालियां दे रहा था कि यह नामुमकिन था कि धनिक महोदय ने उसकी गालियां न सुनी हों। जहां तक मेरा विश्वास है, वह जानबूझकर उन्हें सुनाने के उद्देश्य से ही चिल्ला रहा था। वह हमारे घर के बगल वाले मकान में रहता था इसलिए शायद ही उसकी कोई गतिविधि मुझसे छिपी हो। मैं जानता था कि गालियां देते समय वह पहले अपने कमरे को भीतर से अच्छी तरह बन्द करके अपने को सुरक्षित अवस्था में रखकर, बरामदे से इतमीनान से गालियां दे रहा है। रात का समय भी उसने स्पष्ट ही विशेष उद्देश्य से चुना था। एक तो उस समय सारे मुहल्लेवालों का ध्यान स्वतः उन गालियों की ओर एकान्त रूप से आकृष्ट हो जाता था (क्योंकि चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था और लोग सोने की तैयारी कर रहे थे), दूसरे उसको अपनी सुरक्षा भी अधिक हो सकने की संभावना थी, क्योंकि सोने की तैयारी करता हुआ कोई आदमी इतनी फुर्ती नहीं कर पाता कि उठकर गाली देनेवाले पर हमला करे—विशेषकर उस व्यक्ति पर जो अपने कमरे के भीतर बंद हो। वह यही चाहता था कि वह भी सुरक्षित रहे और साथ ही उसकी गालियां भी सारे मुहल्ले में प्रचारित हो जाएं, और उद्दिष्ट व्यक्ति भी इतमीनान से उन गालियों को सुन ले। वह ऐसी खुली जबान से गालियां देता जाता था कि लगता था जैसे एक-एक गाली के उच्चारण द्वारा उसकी जीभ को (और आत्मा को भी) परिपूर्ण रस प्राप्त हो रहा हो।

इसलिए दूसरे ही दिन जब मैंने उसकी नौकरी की बात सुनी तो मुझे विश्वास न होना स्वाभाविक था। पर बाद में पूछताछ करने पर पता चला कि बात सच थी। किसीने व्यंग्य में यहां तक कहा कि उसे नौकरी मिली ही इस कारण से है कि उसने कल दिल खोलकर गालियां दी हैं। वह महाशय एक दूसरे सज्जन से बातें कर रहे थे और कह रहे थे—"जैक को तुम अधपगला न समझो। वह पक्का धूर्त है। वह उन साहब की मनोवृत्ति से परिचित है,

जिसने उन्हें अपने यहां नौकर रखा है। वह जानता रहा है कि उनपर केवल गालियों का ही प्रभाव पड़ सकता है!"

उन धनिक महाशय के यहां नौकरी करते हुए जनार्दन को प्रायः डेढ़ वर्ष हो चुका था। इस बीच धनिक महोदय की पत्नी बहुत बीमार पड़ गई थीं। नित्य सुबह-शाम शहर के सुप्रसिद्ध डॉक्टर उनके यहां आते रहते थे। सिविल सर्जन एक अंग्रेज़ था। जनार्दन जब टामियों तक का बड़ा भक्त था तब किसी अच्छे पदवाले अंग्रेज़ के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है! जो भी टामी या सिविलियन अंग्रेज़ उसे रास्ते में दिखाई देता उसे वह नियमित रूप से 'मिलिटरी सल्यूट' किया करता था और अपनी इस क्रिया से स्वयं अत्यन्त पुलकित होता था और अपने को बहुत गौरवान्वित समझता था। एक दिन वह बाज़ार से सुबह के लिए साग-सब्ज़ी खरीदने गया हुआ था। उन दिनों वह रसोई बनाया करता था। एक हाथ में वह साग-भाजी का झोला लिए था और दूसरे में एक बड़ी-सी पुड़िया। दाहिने हाथ से बगल में दाब के बने हुए एक बड़े-से पहाड़ी कटोरे को दबाए हुए था, जिसमें दही था। ज्यों ही वह पत्थर की सीढ़ियों से होकर ऊपर दरवाज़े के पास पहुंचा त्यों ही सहसा सिविल सर्जन बीमार को देखकर बाहर लौटा। जनार्दन ने अभ्यासवश, तत्काल, बिना कुछ सोचे-विचारे, पुड़िया को नीचे फेंककर दाहिने हाथ को पूरा घुमाकर 'मिलिटरी सैल्यूट' किया। बगल से दही का कटोरा सीढ़ियों से लुढ़कता हुआ एकदम नीचे जा गिरा, पर 'जैक' अपनी सलामी की मुद्रा में न तनिक झुका, न दही के कटोरे के गिरने की चिन्ता से उसने पीछे की ओर लौटकर देखा। जब तक वह साहब न चला गया था तब तक वैसे ही खड़ा रहा। मैं नीचे अपने समवयसी बालकों के साथ खेल रहा था। कटोरे के लुढ़कने की आवाज़ सुनकर मैंने ऊपर को दृष्टि की। जो अपूर्व दृश्य मैंने देखा उसे मैं जीवन-भर नहीं भूल सकता। जनार्दन मूर्तिमान सलाम बनकर खड़ा था। साहब अट्टहास कर उठे। साहब के चले जाने पर जनार्दन ने स्थिति को ठीक तरह से समझने का प्रयत्न किया। दही नष्ट हो जाने का दुःख उसे अवश्य हुआ और उसके लिए उसने मालिक से क्षमा भी चाही, पर साहब के अट्टहास करने से जो प्रसन्नता उसे हुई, गर्व की जिस भावना से उसकी छाती फूल उठी, उसकी तुलना में वह अफ़सोस नगण्य था।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि मैं उससे बहुत डरता था, यद्यपि दूर से उसकी प्रत्येक गतिविधि पर गौर करता था। मेरा भय अकारण नहीं था। दो-एक बार मैंने उसे उसके कुछ विचित्र खामखयालियों से भरे कृत्यों की याद दिलाई—इस शिशुजनोचित आशा से कि जनार्दन प्रसन्न हो उठेगा। पर उसने अग्निशर्मा का रूप धारण कर जो डांट मुझे बताई उससे मैं थरथरा

उठा और तब से उसके सामीप्य से बहुत बचकर चलने लगा।

जब प्रथम महायुद्ध (१९१४ में) छिड़ा तब उसकी अवस्था प्रायः २० वर्ष की रही होगी। वह 'लेबर कोर' में भर्ती होकर लड़ाई में चला गया। पूरे चार साल तक वह हम लोगों के बीच से अदृश्य रहा। मेरे जीवन का विकास इन चार वर्षों में अपने निजी ढंग से होता चला जा रहा था, और मैं बहुत-सी पिछली बातों की तरह जनार्दन की बात भी एकदम भूल गया था।

चार साल के बाद एक दिन क्या देखता हूं कि जनार्दन खाकी ज़ीन की मिलिटरी वर्दी में अपने चिर-परिचित दांतों को और अधिक आगे बढ़ाए और खीसें निपोरे मुहल्ले की चहारदीवारी के भीतर प्रवेश कर रहा है। "जैक आ गया! जैक आ गया!" चारों ओर से युवकों, वृद्धों, औरतों और बच्चों के मुंह से यह आवाज़ सुनाई देने लगी। स्वभावतः मेरे कानों में भी वह आवाज़ गई। मैंने गौर से देखा और अपने पुराने परिचित मित्र को पहचानकर जो हार्दिक प्रसन्नता मुझे हुई, उसका वर्णन कठिन है। आज भी जब इतने वर्षों बाद अपनी उस अकपट प्रसन्नता का विश्लेषण करने बैठता हूं तो उसका मूल कारण खोजते हुए चक्कर में पड़ जाता हूं। मैं स्पष्ट देख रहा था कि जैक के वापस आने से केवल मुझे ही प्रसन्नता नहीं हो रही थी, बल्कि मुहल्ले के सभी व्यक्तियों में उसे चार वर्ष बाद देखकर एक अकारण हर्ष की हिलोर दौड़ पड़ी थी···हालांकि मुहल्ले में एक भी ऐसा व्यक्ति शायद ही हो जिसपर जैक ने गालियों की बौछारें न की हों।

क्या मनुष्य की अवचेतना गाली (और वह भी गंदी से गंदी) खाना पसंद करती है? यह प्रश्न आज फिर मेरे मन में उठ रहा है।

कुछ दिनों तक तो मैं बड़ी ही श्रद्धा और संभ्रम की दृष्टि से उसे देखता रहा और पहले ही की तरह दूर ही से उसकी प्रत्येक गतिविधि पर गौर करता रहा। मैं देख रहा था कि चार वर्ष की लड़ाई के बाद भी उसकीआकृति में तनिक भी अन्तर नहीं आया था। कपाल में और गालों में वही झुर्रियां, बाहर की ओर निकले हुए टेढ़े-मेढ़े दांतों में वही नीले और पीले रंग की मिश्रित पुताई, होंठों के इर्द-गिर्द वही क्रूर और प्रति-हिंसात्मक हंसी। उसकी प्रकृति में भी विशेष अन्तर नहीं आया था। वही खामखयाली, वही सनक। बातें करते-करते वह बीच-बीच में नाच उठता और फिर तत्काल ही किसीको भयंकर आक्रोश के साथ गाली दे बैठता। पर उसके इन सब क्रियाकलापों के बावजूद मेरे भीतर से भय का वह भूत चला गया था जो उसके लड़ाई में जाने के पूर्व समय-असमय मेरा गला दबाया करता था। इसका एक कारण शायद यह था कि मैं अब पहले का-सा बच्चा नहीं रह गया था और अंतर्बुद्धि से जान

गया था कि जनार्दन के बाहरी खूंखार रूप के भीतर एक बहुत ही कोमल व्यक्तित्व और साथ ही कायर का रूप छिपा है। उनके भीतर के उस कायर को छूने की कुंजी जैसे मुझे मिल गई थी। जब मुझे निश्चय हो गया कि अब मेरे लिए उससे डरने का कोई कारण नहीं है, तब मैं मुक्त भाव से उससे मिलने लगा और लड़ाई के सम्बन्ध में उससे नाना प्रकार के कौतूहलपूर्ण प्रश्न करने लगा। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वह भी अब मुझे एक बच्चा समझकर उपेक्षा भाव से बातें नहीं करता था, बल्कि मुझे काफी सयाना मानने लगा था—हालांकि तब मेरी आयु १६ वर्ष से अधिक न होगी।

तब से वह मेरा सच्चा मित्र बन गया। जाड़े के दिनों में जब हम लोग कभी उसके यहां और कभी अपने यहां अंगीठी के पास बैठकर आग तापते थे तब वह लड़ाई के सम्बन्ध में अपने अनुभवों का वर्णन बड़े ही दिलचस्प ढंग से करता था। एक दिन उसे मालूम हुआ कि मैं फ्रेंच सीख रहा हूं और काफी सीख चुका हूं। उस दिन मेरे यहां आते ही वह बोला—"पार्लें वू फ्रांसे ?" (क्या तुम फ्रांसीसी भाषा में बातें कर सकते हो ?) और मेरा उत्तर पाने के पूर्व ही उसी सांस में बोल उठा—"कोमांतेली वू ?"[1] उसके बाद और भी कई फ्रांसीसी वाक्य वह लगातार बोलता चला गया। मेरे लिए वह एक बिलकुल ही नया और विश्वासातीत अनुभव था। एक निपट अशिक्षित व्यक्ति मेरे आगे खड़ा होकर धड़ल्ले से फ्रेंच पर फ्रेंच बोलता चला जा रहा हो, जबकि मैं इतने कष्टों से उसे सीखने का प्रयत्न करते हुए भी एक वाक्य तक ठीक से बोलने का साहस नहीं कर पाता था। उस समय वह मुझे एक अलौकिक चमत्कारी व्यक्ति-सा लग रहा था। उसके आगे मैं अपने को एक बहुत ही छोटा, नगण्य बालक अनुभव कर रहा था। मैं कुछ क्षणों तक पुलकित दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा। पुलकातिरेक के कारण मेरी आंखें सजल हो आई थीं।

जब कुछ स्थिर हुआ तो मैंने गद्गद भाव से प्रश्न किया—"तुम पेरिस भी गए थे, जैन भैया ?"

"आहा ! पेरिस की न पूछो !" जैन भैया ने इस ढंग से कहा जैसे पेरिस की याद से उनके मुंह में पानी भर आया हो—"वह एक निराला ही शहर है। वह पृथ्वी का स्वर्ग है, स्वर्ग ! इंद्रपुरी की कोई तुलना उसके आगे नहीं हो सकती ! आहा ! ..." यह कहकर जैन भैया कुछ देर तक आंखें बन्द करके दांतों को बाहर और दृष्टि को अंतर्मुखी किए रहे—सम्भवतः इंद्रपुरी की स्वर्गीय कल्पना से वह कुछ क्षणों के लिए समाधि-मग्न-से हो गए थे।

---

१. 'कोमां-त-इल-ए-वू ?' का टामी रूप। अर्थ है—'आपके मिज़ाज़ कैसे हैं ?'

कुछ क्षणों बाद आंखें खुलने पर अर्द्धदृष्टि से ऊपर की ओर देखते हुए फिर एक बार सरल भाव से बोले—"आहा! ···कहां गए वे दिन! जिस दिन हम लोग पहले-पहल पेरिस के स्टेशन पर उतरे, उस दिन इन्द्र की सैकड़ों परियां हमारे स्वागत के लिए वहां कतार बांधे खड़ी थीं। मैं तुम्हें कैसे बताऊं कि वे किस कदर एक से एक बढ़कर सुन्दरी थीं! ऐसा रूप हिन्दुस्तान में देखने को मिल नहीं सकता। वह जैसे एक स्वप्न था। हमें देखते ही वे कहने लगीं—'वोको इंडियन! वोको' इंडियन!' और प्रसन्नता से अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाकर नाचने लगीं।···" और उसके बाद उन्होंने विस्तार से यह बताया कि किस प्रकार बड़े-बड़े फ्रांसीसी अफसरों ने (और सुन्दरी युवतियों ने भी) एक-एक करके भारतीय सैनिकों से हाथ मिलाया और कैसी मीठी-मीठी बातें कहीं।

मैं भारत के एक पहाड़ी कोने में पड़ा हुआ प्राणी, संसार के श्रेष्ठ और सुन्दरतम नगर की हवा खाए हुए उस स्वर्गपुरी की परियों के अपूर्व (और—मेरी तत्कालीन कल्पना में—प्रायः अलौकिक) रंग-रसमय वातावरण में सांस लिए हुए एक 'चमत्कारी व्यक्ति को अपने एकदम निकट पाकर पुलक-विह्वल दृष्टि से' सम्मोहित भाव से एकटक देखता रह गया।

कुछ देर तक वह पेरिस के बाहरी तथा भीतरी सौंदर्य का वर्णन अपनी असंस्कृत कल्पना की दौड़ के अनुसार करता चला गया। मैं मोहमुग्ध-सा एकान्त चित्त से परिपूर्ण तत्परता के साथ सब सुनता रहा।

जब उसका भावावेग ठंडा पड़ गया तब एक लम्बी सांस लेते हुए और मुख पर एक तीव्र विषाद, पश्चात्ताप और खीझ का भाव प्रकट करते हुए बोला—"पर फ्रांस ने मुझे कहीं का न रखा! मैं बरबाद हो गया!"

अत्यन्त चिन्तित भाव से मैंने पूछा—"क्यों, क्या हुआ जैन भैया? फ्रांस ने तुम्हें बरबाद कैसे किया? क्या लड़ाई में कहीं कोई सख्त चोट आ गई?"

"जो कुछ हुआ उससे तो बेहतर था कि मुझे सख्त चोट आ गई होती और मेरे प्राण निकल गए होते। उफ! कैसे जोखिम-भरे जाल में फंस गया! मेरी ज़िन्दगी ही चौपट हो गई···।"

"पर हुआ क्या?"

"बात यह हुई कि हम लोग जब मार्सेल के बंदरगाह में पहुंचे तो वहां हमें दो दिन के लिए शहर में घूमने और मौज करने की पूरी छुट्टी मिल गई···।" अपनी बात के आवेग में फिर उत्साहित होते हुए जैन भैया बोले—"मार्सेल का बंदरगाह बड़ा विचित्र है, भैया! सारा शहर वेश्याओं से भरा है। वेश्याओं को छोड़कर किसी भी गृहस्थी का कोई मकान मुझे वहां न

दिखाई दिया। जहां कहीं भी हम लोग जाएं वहीं आलीशान मकानों की खिड़कियों से बनी-ठनी हुई, मैदे से भी सफेद रंग के ऊपर खून से भी ज्यादा लाल रंग के धब्बों से गालों को रंगाए, अलबेली, छैलछबीली छोकरियां हम लोगों को इशारा करके बुलाती थीं। मेरे मन का तो यह हाल था जैसा कि वहीं किसी छोकरी के दरवाज़े के नीचे बैठकर 'सुईसाइड' कर लूं। मैं हरएक खिड़की की ओर ललचाती हुई आंखों से देखता था, पर कहीं भी भीतर जाने की हिम्मत नहीं पड़ती थी कि कहीं कोई मार न बैठे। पर मेरा साथी बड़ा दिलेर था। एक मकान के तिमंज़िले की खिड़की से एक सत्रह-अठारह वर्ष की लड़की एक हरे रंग का रेशमी रूमाल हम दोनों की ओर हिलाकर इशारे से हमें बुला रही थी। वह कैसी अद्भुत सुन्दरी लड़की थी, आह! ··· उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। इच्छा होती थी कि या तो अपनी छाती पर एक छुरा भोंक दूं या उसके···। मेरा साथी बोला—'चलो! बुला रही है।' और मेरा हाथ घसीटता हुआ वह जबर्दस्ती मुझे सीढ़ियों के ऊपर ले गया। मेरा कलेजा मारे डर के कांप रहा था। कहीं सचमुच मार न खा जाऊं! जब हम लोग ऊपर गए तो एक दरवाज़े पर एक बुढ़िया से बातें हुईं। उसने कहा कि हम लोग पहले पचास फ्रांक (फ्रेंच सिक्का) उसके हाथ में रख दें, तब भीतर लड़की से मिल सकते हैं। सीढ़ियों के ऊपर पहुंचकर मेरी हिम्मत बढ़ गई थी। मैं शराब पिए हुए था ही। (शराब हम लोगों को एक तरह जबर्दस्ती पिलाई जाती थी।) और मेरी जेब में तीन महीने की पूरी तनख्वाह थी, जो इत्तिफाक से पिछले ही दिन एकमुश्त मिली थी। मैंने पूरे पचास फ्रांक बुढ़िया के हाथ में गिन दिए और कहा कि अगर लड़की ठीक ढंग से मिली तो बाद में कुछ और दूंगा। बुढ़िया ने खुशी से हम लोगों को भीतर जाने दिया। भीतर की सजावट देखकर मैं अपने को सातवें स्वर्ग में समझने लगा—हालांकि बाद में एक जानकार ने मुझे बताया कि वह सजावट फ्रांस में गरीब से गरीब घरों की सजावट से भी गई-गुजरी थी। पर मैंने चूंकि फ्रांस के किसी गृहस्थ घर के भीतर कभी पांव नहीं रखा था, इसलिए हिन्दुस्तानी सजावट की तुलना में वह दृश्य मुझे अपूर्व लगा। रंग-बिरंगे रेशमी पर्दों की सजावट, दीवारों पर टंगी हुई रंगीन और सादी तस्वीरों की सजावट और निराले ही रूप-रंग के गुलदस्तों की शोभा देख-देखकर मैं अचकचा गया···और वह लड़की जब मीठे-मीठे प्यार-भरे शब्दों में बातें करने लगी तब···"

मेरी उम्र तब अपेक्षाकृत छोटी थी, इसलिए मैं अत्यन्त संकोचपूर्वक सिर नीचा किए, जैन भैया के रोमानी जीवन की वे सब बातें सुन रहा था। पर उस 'रोमांस' की अन्तिम परिणति का विस्तृत वर्णन सुनने का साहस मैं अपने में बटोर नहीं पा रहा था, इसलिए दूसरी चर्चा चलाने के उद्देश्य से मैं बीच

मैंने पूछा—"अच्छा, तो जैन भैया, कांग्रेस के बाद तुम लोग कहां गए ?"

"अजी वहां की पूछो न, मुझ से तो ठीक…" तनिक झल्लाकर जैन भैया बोले—"मेरे सुख की दुनिया कैसे उजड़ गई, मेरी जिन्दगी कैसे बरबाद हुई, यह तो मैंने बताया ही नहीं। उसी दिन से मुझे 'सिफिलिस' हो गई, सिफिलिस ! समझे ? यह कैसी भयानक बीमारी है, यह तुम सोच भी नहीं सकते !"

वास्तव में तब मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं था कि यह बीमारी है क्या चीज़। हां, इतनी कल्पना मैं अवश्य किए हुए था कि वह कोई बड़ा ही घातक रोग है।

"पर अब तो तुम अच्छे हो गए हो। तब तुम्हारी ज़िन्दगी कैसे बरबाद हुई ?"

"तुम अभी नादान बच्चे हो ? कुछ और बड़े हो जाओ, तब तुम भी स्वयं अपने ऊपर बीतने पर जान जाओगे कि इस बीमारी से सारी ज़िन्दगी कैसे बरबाद होती है…! एक बार जब यह घर दबाती है तब कोई भी दवा उससे पूरी तरह उबारने में सहायक नहीं होती।"

यद्यपि भाग्य की कृपा से जैन भैया का उस दिन का आशीर्वाद अभी तक मेरे जीवन में नहीं फला है और न कभी फलेगा, ऐसी आशा रखता हूं, तथापि उसकी याद से आज भी मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

इसके कुछ ही दिन बाद एक दिन भैया अचानक लापता हो गए। बड़े लम्बे अर्से -- प्रायः दस वर्ष—के बाद एक दिन इलाहाबाद में फिर उनके दर्शन हो गए। मैं किसी काम से इलाहाबाद आया हुआ था और पहले ही से एक मित्र के यहां ठहरने का इरादा किए हुए था। प्रायः एक बजे दिन का समय था। निश्चित मकान पर पहुंचने पर मैंने बाहर से दरवाज़ा खटखटाया।

भीतर से आवाज़ आई—"कौन है ?"

आवाज़ स्पष्ट ही किसी पुरुष की थी, स्वभावतः यह समझकर कि कोई नौकर होगा, मैंने कहा—"खोलो।"

"पहले अपना नाम बताओ तब दरवाज़ा खुलेगा," भीतरवाला व्यक्ति बोला।

नाम से मुझे कोई इलाहाबादी नौकर पहचान नहीं सकेगा यह निश्चित जानते हुए मैंने कहा—"पहले खोलो तो सही, तब नाम बताऊंगा।"

"न !" दृढ़ स्वर में नेपथ्यांतरित व्यक्ति बोला—"तुम चाहे फील्ड मार्शल वर्डवुड ही क्यों न हो, चाहे स्वयं मेरे बाबू जी ही क्यों न हों, मैं बिना नाम बताए दरवाज़ा हर्गिज़ नहीं खोलूंगा।"

अच्छे व्यक्ति के पाले पड़ा, यह सोचते हुए तंग आकर मैंने अपना नाम

बता दिया, यद्यपि मुझे यह निश्चित विश्वास था कि प्रश्नकर्ता को मेरा नाम जानकर तनिक भी तहल्लियत न होगी और नाम के बाद वह ग्राम, पेशा तथा मेरा हुलिया पूछेगा।

पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मेरा नाम सुनते ही—"आहा!" कहते हुए भीतर-स्थित व्यक्ति ने दरवाजा खोला और मैंने अपने आगे जैन भैया की चिर-परिचित, बहिर्गत दंत-विभूषित मूर्ति को खड़े पाया। इतनी दीर्घ अंतरावधि में भी उनकी आकृति में रंचमात्र का अंतर नहीं आया था—वही झुर्रियां, वही अभिव्यक्ति और वही दुबला-पतला फुर्तीला गठन, वही भयानक आकृति!

"ओह, जैन भैया! तुम यहां कहां?"

"मैं साल-भर से यहीं···बाबू के यहां चूल्हा फूंकने का काम करता हूं। तुम आज कहां से···"

मैं स्पष्ट देख रहा था कि मुझे अतिथि रूप में पाकर जैन भैया के मुख की अभिव्यंजना में एक अजीब मिश्रित रंग चढ़ गया था। प्रसन्नता, खीझ, झेंप, और क्रोध का वह रासायनिक मिश्रण देखने ही योग्य था। मैंने सोचा था कि इतने वर्षों बाद परदेश में अचानक मुझसे भेंट हो जाने पर विशुद्ध प्रसन्नता के अतिरिक्त और किसी भी भाव की छाया जैन भैया के मुख पर नहीं पड़नी चाहिए थी। तब मैं नहीं जानता था कि उनके भीतर क्या 'द्वन्द्व' चल रहा है।

जब मैं अपना सामान भीतर रखने लगा तब जैन भैया ने एक विचित्र प्रकार की गंभीर मुद्रा में पूछा—"क्या यहीं ठहरने का इरादा है?"

इस प्रकार के प्रश्न की प्रत्याशा मैं जैन भैया के समान सनकी आदमी के मुंह से भी नहीं करता था। कुछ खीझ-भरे स्वर में मैंने कहा—"क्यों? तुम्हें क्या कोई आपत्ति है?"

"नहीं, नहीं, आपत्ति की कोई बात नहीं है," सिर खुजलाते हुए जैन भैया बोले—"पर मैं सोच रहा था कि तुम्हारे और भी तो रिश्तेदार हैं। उनमें से किसी एक के यहां ठहरते तो तुम्हें ज्यादा आराम मिलता।"

जैन भैया की वह बात मुझे बड़ी ही रहस्यमय लगी। कुछ भी न समझने पर भी मैं तिलमिला उठा। कुछ तीखे स्वर में बोला—"दूसरे रिश्तेदारों के यहां बड़े परिवार हैं, बाल-बच्चे हैं, और यहां केवल तुम हो और तुम्हारे बाबू। तिसपर भी तुम्हें मेरे ठहरने पर आपत्ति हो रही है, यह सचमुच बड़ी विचित्र बात है।"

"नहीं, नहीं, तुम ठहरो। बड़े प्रेम से, बेखटके ठहरो! मैंने तो यों ही पूछा था!" सहसा अपने मुरझाए मुख पर अकारण ही अमिश्रित उल्लास झलकाते हुए जैन भैया ने कहा—"पर एक बात है! बाबू जी जब आएं तो

उनसे यह न कहना कि मैंने तुमसे कहीं दूसरी जगह ठहरने के बारे में कोई बात कही है। मैंने बिलकुल मज़ाक में यह बात कही थी। तुम्हारे आने से मुझे बेहद खुशी हुई है! तुम बड़े अच्छे आदमी हो!" यह कहकर मेरे दोनों कंधों पर अपने दोनों हाथ रखकर जैन भैया ने नाचना-कूदना शुरू कर दिया।

मैंने कहा—"मेरे लिए एक प्याला चाय और एक चिलम तमाखू का इन्तजाम कर दो भैया। मैं बहुत थका हुआ हूं।"

"चाय! तमाखू!" कहकर जैन भैया ने फिर सिर खुजलाना शुरू कर दिया, "यह तो तुमने बड़ी समस्या खड़ी कर दी। इतनी देर इन चीज़ों का इन्तजाम हो सकना बहुत कठिन है।"

"जैसे भी हो, तुम्हें इन्तज़ाम करना ही होगा। रेल के सफ़र से मेरा बुरा हाल है।"

"अच्छा देखता हूं," कहकर जैन भैया मरे मन से चूल्हे की तरफ बढ़े। मैं भीतर जाकर एक चारपाई पर चारों-खाने चित लेट गया।

उधर जैन भैया ने सिनेमा के किसी गीत की एक अधूरी कड़ी को एक अनोखे 'सिसिटरी' लहजे में गाना शुरू कर दिया। प्राय: दस मिनट बाद उन्होंने हुक्का ताज़ा करके आगे रख दिया। मैं अपने मन की चीज़ पाकर परम प्रसन्न होकर चारपाई पर लेटा-लेटा आंख मूंदकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। बहुत देर तक गुड़गुड़ाता चला गया, पर न तो मुंह से धुआं ही निकलता था, न तमाखू के तीखे स्वाद का तनिक भी आभास मालूम होता था। यह सोचकर कि अनुभवी जैन भैया ने तवा मोटा रखा होगा, मैं पूरी ताकत से कुछ देर तक और हुक्का गुड़गुड़ाता रहा। पर फिर भी कोई फल न हुआ। शायद चिलम की आग बुझ गई होगी, यह सोचकर मैंने चिलम को फूंकना शुरू किया। लाल अंगारे और तीव्रता से दहक उठे। माजरा क्या है, यह जानने के लिए उत्सुक होकर मैं बाहर गया और चिलम उलटकर देखने लगा कि तमाखू कुछ भी जला है या नहीं। पर वहां जब तमाखू हो तब न! चिलम में केवल कोरे अंगारे भर दिए गए थे— तमाखू का लेश भी कहीं नहीं था।

मैंने सोचा कि शायद सनकी और अधपगले जैन भैया से भूल हो गई है। उन्हें बुलाने के उद्देश्य से मैं रसोई में गया। पर वहां कोई नहीं था और न ही चूल्हे पर चाय की केतली ही चढ़ी हुई थी। अत्यन्त निराश होकर मैं फिर भीतर जाकर लेट गया और जैन भैया के आने का इन्तजार करने लगा।

प्राय: चार बजे जैन भैया लौटे—मेरे मित्र और रिश्तेदार महोदय के दफ्तर से लौटकर आने के ठीक आध घण्टा पहले।

"कहां चले गए थे, जैन भैया?" मैंने अपनी खीझ को दबाते हुए पूछा।

"अरे भाई, मोतीलालजी अभी मोटर में लखनऊ से आए हैं। उनके आने

की खबर लगते ही मैं सीधे आनन्द भवन के फाटक पर जा पहुंचा। कार आई और मैंने उन्हें देखा। बिलकुल शेर बबर लगते हैं, शेर बबर! सुना है, फील्ड-मार्शल वर्डवुड भी उनसे डरते हैं। क्या यह सच है भैया? तुम्हारा क्या खयाल है?"

और कोई समय होता तो मुझे हंसी आती। पर तमाखू के सम्बन्ध में मेरे साथ किया गया परिहास और चाय के सम्बन्ध में एकदम उपेक्षा का भाव मेरे मन में ताज़ा बना हुआ था। पर जहां मोतीलाल नेहरू और फील्ड-मार्शल वर्डवुड की बात चल रही हो वहां चाय और तमाखू के सम्बन्ध में अपनी तुच्छ शिकायत को अधिक महत्त्व मैं कैसे दे सकता था! इसीलिए मन मारकर बोला—"हो सकता है। मोतीलालजी सचमुच बड़े दबंग आदमी हैं।"

अपने टेढ़े-मेढ़े, गंदे, कुरूप और कदाकार दांतों की पंक्तियों को बाहर निकालते हुए परम प्रसन्न भाव से जैन भैया बोले—"आहा! तुमने यह मेरे मन की बात कही। और उनका लड़का जवाहरलाल! वह तो सचमुच जवाहर ही है। सारी सुख-सम्पत्ति को लात मारकर देश के लिए वह कै बार जेल जा चुका है! एक वह है माई का लाल और एक मैं भी हूं कि दूसरों का चूल्हा फूंक-फूंककर अपनी ज़िन्दगी बरबाद कर रहा हूं! धिक्कार है मेरे जीवन को! आहा, वीर जवाहरलाल धन्य है! तुम देख लेना, जवाहरलाल एक दिन हिन्दुस्तान का वायसराय बनकर रहेगा।"

मैंने कहा—"हां।"

मैं यह सोचकर हैरान था कि उसने किस चालाकी से मुझे शिकायत का तनिक भी अवसर नहीं दिया। उसके बाद वह देश की दुर्दशा पर लेक्चर बघारता चला गया।

मेरे रिश्तेदार के दफ्तर से वापस आने पर उनके कुशल-क्षेम की बातें हुईं। उसके बाद मैंने परिहास के तौर पर जैन भैया के तमाखू के भरने का किस्सा उन्हें सुनाया। वह सुनकर हंस दिए। जैन भैया को फटकारने या उनके साथ किसी प्रकार का कड़ा व्यवहार करने का साहस स्पष्ट ही उनमें भी नहीं था। उनके आते ही जैन भैया ने मिनटों में चाय तैयार की और एक चिलम महकता हुआ तमाखू भरकर उनके आगे रख दिया। मालिक से अतिथि का महत्त्व अधिक है, यह सिद्धान्त वह कतई मानने को तैयार नहीं थे।

तीन-चार दिन के बाद की बात है। सुबह आठ बजे के करीब जैन भैया ने हिसाब की एक कापी अपने बाबूजी के आगे रख दी। महीना समाप्त हो चुका था, और उस कापी में जैन भैया ने महीने-भर के खर्च का हिसाब पाई-पाई लिख रखा था। मालूम हुआ कि महीने-भर का गल्ला, नोन, तेल, लकड़ी, सिगरेट, पान आदि का कुल खर्चा जैन भैया स्वयं अपने पास से करते हैं। कुल हिसाब जोड़ने पर ७० रुपये १२ आने ३ पाई निकला। बाबूजी ने

जैन भैया के इस राई-रत्ती और पाई-पैसे के हिसाब में से स्थान-स्थान पर कई रकमें उनसे बिना पूछे ही काट डालीं, और फिर अन्त में अपने हिसाब से 'टोटल' निकाला. जो पचास रुपया कुछ आना निकला। बाबूजी ने पचास रुपये अपनी जेब से निकालकर जैन भैया के हवाले करते हुए कहा—"इतने से ज्यादा खर्चा पिछले महीने किसी भी हालत में नहीं हुआ होगा, इतना हिसाब मैंने लगा लिया है। इसमें कुछ कम ही हुआ होगा। इसलिए पचास में सौदा कर लो।"

जैन भैया ने खीसें निपोरते हुए अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"अच्छा दस रुपया इसमें और बढ़ा दीजिए बाबूजी।" उनके चेहरे पर असन्तोष का चिह्न नाम को भी नहीं व्यक्त हो रहा था।

बाबूजी ने दृढ़ स्वर से कहा—"नहीं, यह नहीं हो सकता।"

"अच्छा पांच रुपया तो इस गरीब पर दया करके और बढ़ा दीजिए।"

"नहीं. मैं अब एक कौड़ी भी नहीं बढ़ा सकता!"

"अच्छा, अच्छा, ठीक है। आप नाराज़ न हों, बस, मैं केवल इतना ही चाहता हूं।" जैन भैया ने परम भक्ति भाव से बाबूजी की ओर हाथ जोड़ते हुए कहा।

जब मेरे रिश्तेदार दफ्तर चले गए तब मैंने एकान्त पाकर जैन भैया से पूछा—"अच्छा, जैन भैया, तुम्हारी कापी में तो पाई-पाई का हिसाब लिखा हुआ था, तब बीस रुपया, बारह आना, तीन पाई कम हो जाने पर क्यों राज़ी हो गए? क्या हर महीने तुम इसी तरह अपनी गांठ से रुपया पूरा करके बाबूजी को खिलाते हो? तुम्हारे बाबूजी तो बड़े वैसे मालूम होते हैं।"

मैंने जानबूझकर उसके बाबूजी पर छींटे कसे थे।

"अरे राम! राम! बाबूजी के लिए तुम इस तरह की बात न सोचा करो। वह बहुत बड़ी तबीयत के, दरिया-दिल आदमी हैं। उन्होंने पचास रुपया ठीक ही दिया है. आजकल की सस्ती में दो आदमियों का माहवार खर्चा पचास रुपये से कम ही बैठता है. ज्यादा नहीं।"

हैरान होकर मैंने पूछा—"पर तुम्हारा वह हिसाब···?"

"अरे वह सब करना पड़ता है। चूल्हा फूंकता हूं तो इससे क्या? पैसा कमाने की थोड़ी बुद्धि मैं भी रखता हूं। असल में मैं इस किफायत से चलता हूं कि चालीस रुपये में सब कुछ पूरा हो जाता है। पर जब सत्तर रुपये का हिसाब दिखाता हूं तब पचास मिलते हैं। साठ दिखाता तो चालीस ही मिलते। बाबूजी दस रुपया महीना तनख्वाह देते हैं, खाना और कपड़ा छोड़कर। पर उतने से मेरा गुजारा नहीं होता। घर में मां है, बच्चे हैं, भाई हैं—उन सबका ध्यान मुझे रखना पड़ता है। खास कर बूढ़ी अम्मां का मुझे खयाल

है। दुनिया में सब कुछ फिर से मिल सकता है पर मां नहीं मिल सकती, भैया ! आहा, मां ! मैं कैसा बेवकूफ था जो इतने दिनों तक उसे भूलकर उस चुड़ैल के पीछे अपना सब-कुछ नष्ट करता रहा।"

"कौन चुड़ैल ?"

"अरे मेरी घरवाली, और कौन ? उस दुष्टा के बहकावे में आकर मैं अपनी मां और भाइयों से अलग होकर उसके साथ उसके मायके में जाकर रहने लगा था। मैंने जितना कुछ भी रुपया जमा किया था वह सब उसने रख लिया और उसके बाद भी मैंने जो-कुछ कमाया सब उसीको सौंप दिया। मां को मैंने कभी एक पैसा नहीं भेजा। एक बार मैं सख्त बीमार पड़ गया और जीने की कोई आशा न रही। इलाज के लिए रुपयों की ज़रूरत पड़ी तो मैंने उससे मांगा। उसने कहा कि उसके पास एक पाई भी नहीं है। उसने अपने भाइयों को बहुत-सा रुपया ज़मीन खरीदने के लिए दे दिया था और बाकी का गहना बनवा लिया था। मैंने गहना मांगा, उसने साफ इनकार कर दिया था। अन्त में मेरे भाई आकर मुझे घर ले गए और उन्होंने और मां ने मिलकर मेरी टहल की। तब से मेरी फूटी आंखें खुल गईं। अब मैं एक पैसा भी उस चुड़ैल को नहीं भेजता। सब मां को और भाइयों को भेजता हूं। उस हरामजादी ने मेरे साथ इतना बड़ा विश्वासघात किया ! पर मैंने भी वह बदला चुकाया है कि वह ज़िन्दगी-भर याद करेगी।"

"कैसे ?" मैंने कौतूहलवश पूछा।

"जो 'राजरोग' (अर्थात् सिफिलिस) मैं लड़ाई से लाया था, उसका विष उसके शरीर में भी फैल गया है। हा···हा · हा···!"

मैं आतंकित हो उठा। शैतान के दुर्ग की चहारदीवारी को भेदता हुआ वह अट्टहास बहुत देर तक मेरे कानों में गूंजता रहा।

"अच्छा भैया, अब चलें। मुझे सिनेमा के कागज़ बांटने हैं।"

"क्या तुम यह काम भी करते हो ?" मैंने पूछा।

"नहीं तो सिनेमा देखने को कैसे मिले ? पैसे तो मैं खर्च नहीं कर सकता और हर रोज़ बिना सिनेमा देखे मुझे नींद नहीं आती। आजकल माधुरी की 'एक्टिंग' वाला खेल चल रहा है। आहा ! सचमुच माधुरी माधुरी ही है—हालांकि सुलोचना उससे कहीं अच्छी है। जब वह कहती है—'प्याड़े, क्या टुम्हाड़े-हमाड़े पड़ेम का एन्ट हयों हो जागा ?' तो उसके मुंह से यह तोतली हिन्दी बड़ी ही प्यारी लगती है। अच्छा, भैया, जाता हूं···।"

और वह तेज़ कदम रखता हुआ गाता चला गया—

जिसने दिया है दर्दे दिल
उसका खुदा भला करे।

चौथे विवाह की पत्नी

प्यारी भामा,

तुम्हारे दोनों पत्र मुझे यथासमय मिल गए थे। इतने दिनों तक उत्तर न भेज सकी, इसके लिए क्षमा करना। तुमने इस बात की शिकायत की है कि मैं अपनी सहेलियों को पत्र लिखने में सदा आनाकानी करती हूं। इस आनाकानी का कारण तुमने अपने अनुमान से यह समझा है कि चूंकि मैं एक धनी घर में व्याही हूं, इसलिए अपने बाल्यकाल की उन सखियों को भूल गई हूं, जिनका विवाह के बाद भी निर्धनता से सम्बन्ध नहीं छूटा है। बहिन, तुमने बहुत छुटपन से मेरी प्रकृति से परिचित होने पर भी ऐसी बात लिखी है, जिससे मुझे बड़ी गहरी चोट पहुंची है। पत्र कम लिखने की जिस बुरी आदत से मैं लाचार-सी हो गई हूं, उसके कारण बहुत-से हैं, पर वह कदापि नहीं हो सकता, जिसका उल्लेख तुमने किया है। मैं गिरस्ती के जंजालों से ऐसी जकड़ी हुई हूं कि प्रथम तो मुझे अवकाश ही नहीं मिलता और मिलता भी है तो मन में एक ऐसी जड़ता छाई रहती है कि इच्छा प्रबल होने पर भी किसीको कुछ लिख नहीं पाती। मुझे स्वयं इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है कि गृहस्थ जीवन का सब सुख प्राप्त होने पर भी मैं अवकाश के समय अपने जीवन में क्यों एक विकराल शून्यता का अनुभव करती हूं। धनी परिवार, गुणवान् पति, हंसते-खेलते हुए बाल-बच्चे, सहृदय सास-ससुर सभी मुझे सहज-सुलभ हुए हैं, तिसपर भी न जाने क्यों, समय-समय पर असन्तोष का दीर्घ निःश्वास बरबस मेरी आत्मा से निकल पड़ता है। कभी-कभी मुझे सन्देह होने लगता है कि मैं कहीं सचमुच पागल न हो जाऊं। किसी भी काम में मैं कितनी ही व्यस्त होऊं फिर भी अन्यमनस्क-सी रहती हूं और जब इस अन्यमनस्कता का कारण खोजने लगती हूं, तो कुछ भी नहीं समझ पाती और सारे मस्तिष्क में घोर भ्रान्ति छा जाती है और सिर चक्कर खाने लगता है।

असल बात मुझे यह मालूम होती है कि जिस युग में हम लोगों ने जन्म लिया है, असन्तोष की बीमारी उसका प्रधान लक्षण है। क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बच्चे, क्या बूढ़े—सभीको इस रोग ने ज्ञात या अज्ञात रूप से धर दबाया है। उच्चतम शिक्षाप्राप्त धनी व्यक्तियों से लेकर अशिक्षिततम निर्धन व्यक्तियों तक सभी इस रोग से पीड़ित हैं। मुझे न मालूम क्यों इस बात पर विश्वास

होने लगता है कि इस युग की हवा में ही कोई एक ऐसी रहस्यपूर्ण इन्द्रजाली माया छिपी हुई है, जो वास्तविक जीवन के प्रांगण में प्रवेश करने के पहले कुमार-कुमारियों की मानसिक आंखों के आगे भविष्य का एक ऐसा मनमोहक झिलमिला रूप खड़ा कर देती है कि निकट पहुंचने पर वह मृगतृष्णा से भी अधिक धोखा देता है।

आश्चर्य तो इस बात पर अधिक होता है कि सुख का जो साधारण आदर्श तुम्हारी और मेरी जैसी लड़कियों के मन में विवाह के पहले होना चाहिए, वह जब चरितार्थ हो जाता है, तो भी हम लोगों का असन्तोष ज्यों का त्यों बना रहता है। (तुम भी अपने विवाहित जीवन के प्रति असन्तोष का भाव छिपा नहीं सकी हो।) इससे यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि हम लोग सुख की चरितार्थता के लिए संसार से एक ऐसी अज्ञात और अवर्णनीय वस्तु चाहते हैं, जिसका कहीं अस्तित्व ही नहीं है।

तुम्हारा-हमारा जब यह हाल है, तो जिन्हें भाग्य ने वास्तव में असन्तोष का कारण दिया है, उनके सम्बन्ध में कहना ही क्या है! मैं रामेश्वरी की बात सोच रही हूं। मैं जानती हूं कि उसे उसके अनुरूप पति प्राप्त नहीं हुआ। पर मैं पिछले युग की ऐसी स्त्रियों को भी जानती हूं, जो उससे भी निकृष्ट पति प्राप्त होने पर भी जीवन को जीवन की तरह बिता गई हैं। रामेश्वरी को तो फिर भी धनी पति प्राप्त हुआ था, पर वे स्त्रियां कुरूप, गुणहीन और साथ ही निर्धन पतियों के साथ जीवन-यात्रा करने को बाध्य होने पर भी कभी नहीं उकताई हैं। उनका उत्साह कभी पल-भर के लिए भी ठंडा नहीं पड़ा है। मैं जानती हूं कि तुम ऐसी स्त्रियों की दास-मनोवृत्ति का उल्लेख करोगी, क्योंकि तुम मेरी ही तरह बीसवीं शताब्दी में पैदा हुई हो और अधिक नहीं तो हिन्दी मिडिल तक शिक्षा पा चुकी हो। मैं तुम्हारी इस सम्मति की यथार्थता भी स्वीकार कर लेती हूं। पर साथ ही तुम्हारे सामने वही समस्या रखूंगी, जिसका उल्लेख पहले कर चुकी हूं। इस दास मनोवृत्ति रहित युग में भी ऐसी स्त्रियों की संख्या अधिक क्यों है, जिन्हें अपने अनुरूप रूप-गुण, शीलवान और धनी पति प्राप्त होने पर भी असन्तोष का रोग जकड़े रहता है! मुझे पूरा विश्वास है कि रामेश्वरी को यदि उससे भी अधिक रूप-गुण-सम्पन्न पति मिलता, तो भी वह कदापि सन्तुष्ट न होती। कारण मैं यही समझती हूं कि जिस असम्भव और अज्ञात छायात्मक वस्तु की प्राप्ति की अस्पष्ट आकांक्षा से इस युग की सभी लड़कियां पीड़ित रहती हैं, उससे वह भी बची नहीं थी। पर रामेश्वरी की यह छायामयी आकांक्षा परिस्थितियों के फेर से विकृत होकर किस घोर पार्थिव माया में परिणत हो गई थी, उसका इतिहास कुछ विचित्र-सा है। इधर कुछ दिनों से मेरे मस्तिष्क में उसीकी मूर्ति नाच रही है। इसलिए आज मौका

नाकर इस पत्र में उसके विषय में कुछ बातें कहकर मैं तुम्हारे आगे अपना जी हल्का करना चाहती हूं। आशा है, तुम उकताओगी नहीं।

रामेश्वरी के बारे में तुम भी बहुत-कुछ जानती हो, यद्यपि उतना नहीं, जितना कि मैं। तुम्हें मालूम है कि वह हमारे कसबे की लड़कियों की नेत्री थी। गरीब घर में पैदा होने पर भी उसके स्वभाव में एक ऐसा तीखापन और इच्छा-शक्ति की प्रबलता थी कि सब लड़कियां उसके संकेत पर चलती थीं। तुम्हें वह दिन याद है, जब तुमने किसी कारण से उसके किसी आदेश का पालन करने से इन्कार किया था और हम सब लड़कियों ने उसके कहने पर तुम्हारा बहिष्कार कर दिया था! अन्त में उसके पैरों पर गिड़गिड़ाकर तुम्हें क्षमा मांगनी पड़ी थी।

रामेश्वरी उम्र में हममें बहुतों से बड़ी थी। सबका विवाह एक-एक करके होता जाता था, पर रामेश्वरी का विवाह उसके घरवालों की निर्धनता तथा दूसरे कारणों से नहीं हो पाता था, यह बात तुम्हें मालूम है। अन्त में हमारी सहेलियों में रामेश्वरी और मैं—केवल दो ही अविवाहित रह गई। जब मेरे भी विवाह की बात पक्की हो गई तब वह बहुत घबराई। विवाह होने पर उसने मेरे पतिदेव को देखा। जिस-जिसने उन्हें देखा था, उसीने उनके रूप की प्रशंसा की थी, पर रामेश्वरी ने उन्हें देखकर ऐसी उत्कट घृणा का भाव प्रकट किया कि मैं आतंकित हो उठी। नाक-भौं सिकोड़कर वह बोली—"ऐसा बदसूरत आदमी मैंने जिन्दगी में कभी नहीं देखा। लोग क्या समझकर तारीफ कर रहे हैं, मैं समझी नहीं। विमला, मुझे तुम्हारे लिए बड़ा दुःख है।"

मैं मन ही मन उसका वह मनोभाव देखकर जल उठी थी, पर ऊपर से शान्त भाव जताती हुई बोली—"बहन, दुःख बिलकुल न होने दो। मेरा सुहाग बना रहे, इतना ही काफी है। पति के रूप-गुण से मुझे क्या करना है।"

उसने कहा—"तुम मूर्ख हो, इसलिए रूप-गुण का महत्त्व नहीं समझतीं।"

मैं चुप हो रही। मेरी हमजोली की इतनी लड़कियों की शादियां हो चुकी थीं, पर मैंने कभी किसीके पति के सम्बन्ध में उसकी रुचि को संतुष्ट होते नहीं देखा। पता नहीं, पति के रूप के सम्बन्ध में उसका कौन-सा निराला आदर्श था। मुझे तो यह सन्देह होता है कि यदि उसे स्वयं कुमार कार्तिकेय भी मनुष्य रूप में आकर वरण करते, तो वह उनके रूप में भी कोई न कोई दोष अवश्य निकालती। तुम्हारे पति के सम्बन्ध में उसने अपना जैसा मन्तव्य प्रकट किया, वह तो तुम्हें मालूम ही है।

अन्त में उसके चाचा ने बड़ी कड़ी दौड़-धूप करने के बाद उसके लिए एक वर खोज निकाला। सुना गया कि उनके भावी पति महाशय तीन-तीन पत्नियों को जीवन के उस पार पहुंचा चुके हैं, पर अभी तक हैं जवान और साथ ही बड़े

घनी थी। तुम तब ससुराल थीं, और तब से तुम्हें रामेश्वरी को कभी देखने का मौका नहीं मिला है। पर मैं उन दिनों मायके ही थी और उसके बाद भी कई बार उससे मिली हूं। ख़ैर, रामेश्वरी ने जब सुना कि उसके विवाह की बात पक्की हो गई है, तो (मेरा अनुमान है) इस बात से उसकी उत्सुकता और उत्साह में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा कि वह ऐसे पति के साथ ब्याही जा रही है, जिसकी तीन पत्नियां मर चुकी हैं। वह इतनी मूर्ख नहीं थी कि चौथे विवाह वाले व्यक्ति को एकदम जवान मान लेती। फिर भी उसकी-सी रुचि वाली लड़की इस बात से तनिक भी विचलित नहीं हुई, इस बात से मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ।

निश्चित दिन की संध्या के समय बारात बड़ी धूमधाम से आई। वर का मुंह सेहरे से ढका हुआ था और एक रेशमी रूमाल से उसने अपने होंठों को ढक रखा था। बड़ी सभ्यता और शालीनता से वह अपने सिर को नीचे की ओर किए हुए था, जैसाकि ऐसे अवसरों पर करने का रिवाज-सा है। रामेश्वरी मेरे साथ खड़ी थी और अन्यान्य स्त्रियों के साथ कोठे पर से बारात का दृश्य देख रही थी। वर महाशय का चेहरा यद्यपि दिखाई नहीं देता था तथापि विवाह की पोशाक में वह सचमुच जवान मालूम पड़ते थे। रामेश्वरी के मुख पर उल्लास की दीप्ति चमक रही थी।

पर विवाह-मण्डप में जब उसने प्रथम बार अपने पति के दर्शन स्पष्ट रूप से किए तो उसकी सारी आत्मा आतंकित हो उठी। हम लोगों ने भी उसी समय उनके पति को अच्छी तरह देखा था। वास्तव में ऐसा विकृत-रूप पुरुष मैंने अपने जीवन में न पहले कभी देखा था, न उसके बाद कभी देखा है। कोयले की तरह काला रंग, प्रेतात्मा की तरह जीर्ण मुख, गालों की हड्डियां बाहर को निकली हुई, आंखें एकदम भीतर को धंसी हुई, भौंहों में बाल नहीं, सिर के आधे भाग में बाल सफाचट और आधे भाग के आधे बाल पके हुए। पर सबसे अधिक भयावने थे मुंह के बाहर सूअर की तरह निकले हुए दो बड़े-बड़े दांत। रामेश्वरी को वह साक्षात् यमराज के दूत की तरह मालूम हुआ। वह मूर्च्छित होकर मण्डप में ही गिर पड़ी। बहुत देर तक सिर में पानी छपछपाने और पंखा करते रहने के बाद वह होश में आई। किसी तरह उसका हाथ पकड़कर विवाह-कार्य समापन किया गया।

दूसरे दिन विदाई के पहले जब मैं उससे मिली तब वह नादान बच्ची की तरह फूट-फूटकर रोने लगी और कहने लगी—"बहिन, मैंने तुम्हारे पति को कुरूप बताया था, इसीलिए भगवान ने मुझे उसीका दण्ड दिया है। मुझे क्षमा करना।" कहकर वह मेरे गले से लिपट गई और व्याकुल होकर और अधिक वेग से रोने लगी। मैंने जीवन में प्रथम बार उसे उतना कातर देखा था। मेरी

आंखों ने भी आंसू उमड़ चले थे। मैंने दिलासा देते हुए कहा—"घबराओ मत, बहिन! भगवान ने चाहा तो यह विवाह तुम्हारे लिए सब तरह से शुभ होगा।"

उनके पति का नाम ज्वालाप्रसाद दीक्षित था। वह बिजनौर में कण्ट्रेक्टर थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी। पहले विवाह से एक लड़की हुई थी। आठ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई थी। दूसरे विवाह से एक लड़का हुआ था, जो तीन वर्ष की अवस्था में इस लोक से चल बसा था। तीसरे विवाह से कोई सन्तान नहीं हुई थी। उनके एक सौतेले भाई थे। पैतृक संपत्ति का बंटवारा हो गया था और दोनों भाई अलग-अलग रहते थे। इसलिए जब रामेश्वरी अपने पति के घर आई, तो सारे घर की एकेश्वरी रानी-सी बनकर आई। पर सारा घर उसे भौतिक साम्राज्य की तरह सूना लगता था।

दीक्षितजी ने प्रथम दिन से ही रामेश्वरी के साथ रंग-रस की बातें करनी शुरू कर दीं। वह देखने में जैसे कुरूप और कदाकार थे, बातें करने में वैसे ही कुशल और प्रवीण थे। पहले तो रामेश्वरी का सारा शरीर उनकी रसिकता की बातें सुनकर घृणा से जर्जरित हो उठता था, पर पीछे धीरे-धीरे उसे आदत पड़ गई और बहुत-कुछ सहन करने लगी। यह बात स्वयं रामेश्वरी ने मुझे बाद में बताई थी। पर उसने अपने पति का दूसरा रूप अभी नहीं देखा था, जो पीछे प्रकट होने लगा। आरम्भ में कुछ दिनों तक उसे उसके पति ने सब बातों की पूरी स्वतन्त्रता दी। उसे परोक्ष रूप से यह आभास दिया कि वह मन के अनुरूप खाए, पिए, पहने, खर्च करे; उसे रोकनेवाला कोई नहीं है। फल यह हुआ कि उसने नित्य इच्छानुरूप बढ़िया-बढ़िया पकवान तैयार करके खूब खाया, दूसरों को खिलाया और पड़ोस में बांटना शुरू किया। अच्छे-अच्छे कपड़े स्वयं पहने और मुहल्ले की गरीब स्त्रियों को पहनने के लिए दिए। इससे यह न समझना चाहिए कि उसमें स्त्री जाति की स्वाभाविक कृपणता वर्तमान नहीं थी। पर उस समय उसके मन की स्थिति ही कुछ विचित्र थी। उसकी अदम्य प्रणयाकांक्षा को जब खूसट पति के फूहड़ व्यक्तित्व ने प्रबल वेग से धक्का दे दिया तब उसके भीतर निहित आत्मरक्षा के संस्कार ने पति की धनाढ्यता के प्रति अपनी आसक्ति जोड़ने के लिए प्रेरित किया और कुछ दिनों तक मुक्त-हस्त होकर स्वयं रुपया खर्च करने तथा वितरण करने से उसकी आहत आत्मा को किसी हद तक सन्तोष प्राप्त हुआ। पर दीक्षितजी ने जब देखा कि ज़्यादती होने लगी है, तब उन्होंने अपना असली रूप धारण किया। पहले उन्होंने उसे फिजूलखर्ची के लिए सावधान किया, पर जब वह न मानी तो क्रुद्ध होकर उसे डांटना शुरू किया। जब इससे भी कोई फल न निकला, तो उन्होंने उसे पीटना शुरू कर दिया। आधे-आधे अंगुल लम्बे अपने दो टेढ़े और पीले दांतों को बाहर

निकालकर जब वह असह्य आक्रोश से गर्जन करते हुए रामेश्वरी को पीटने लगते, तो रामेश्वरी को न जाने क्यों, तस्वीर में देखी हुई नृसिंह, वाराह और कल्कि अवतार की मूर्तियों की याद आ जाती थी। वह अत्यन्त सन्त्रस्त हो उठी। रात को कभी वह स्वप्न देखती कि वाराह अवतार उनके पति का रूप धारण कर अपने दो लम्बे दांतों से उसे पकड़कर किसी अंधेरी गुफा की ओर जा रहा है। कभी देखती कि उसका विवाह होने पर उनके पति विकट रूप धारण करके लाल वस्त्र पहनकर एक भैंसे पर सवार होकर चले आ रहे हैं और वह स्वयं एक दूसरे भैंसे पर चढ़कर उनके साथ-साथ अत्यन्त त्रस्त-सी होकर वर-यात्रा के बीच चली जा रही है। सब बाराती भूत-प्रेतों की या शिव के गणों की तरह विकृत रूपधारी हैं। बारात श्मशान-मार्ग से होकर श्मशान के चाण्डालों की बस्ती में पहुंची है। सब लोग एक भौतिक नृत्य से 'हा, हा: हूं: हो:' शब्द निकाल रहे हैं।

दीक्षितजी अपनी कंजूसी के लिए मुहल्ले में विख्यात थे। उनके सम्बन्ध में यह किंवदन्ती सुनी जाती थी कि एक बार उनके एक मसखरे मित्र ने इस शर्त पर उन्हें एक रुपया देना स्वीकार किया कि वह उनका जूता उठाकर पांच मिनट तक अपने सिर पर रखे रहें। उन्होंने शौक से ऐसा किया और बाद में सिर में लगी गर्द झाड़कर रुपया बजाकर जेब में रख लिया। वह कभी जल-पान नहीं करते थे और सस्ता से सस्ता चावल खरीदते थे और सस्ता से सस्ता आटा। यदि दाल बनती तो तरकारी उनके यहां न बनती थी, और यदि तर-कारी बनती तो दाल न बनती। यदि भोजनोपरान्त रसोई में रोटी का एक टुकड़ा भी ज्यादा बच जाता, तो उनकी भूतपूर्व पत्नियों पर बड़ी जबर्दस्त डांट पड़ती। इसके प्रायश्चित्त-स्वरूप वह दूसरे दिन अपने नियमित आहार से एक रोटी कम खाते थे। चूंकि रामेश्वरी 'वृद्धस्य तरुणी भार्या' थी, इसलिए वह कुछ दिनों तक मन मारकर, जी कड़ा करके पत्नी की ज्यादतियों को सहते चले गए थे। पर अधिक न सह सके और नोन, तेल, लकड़ी का सारा प्रबन्ध उन्होंने अपने हाथ में ले लिया।

धीरे-धीरे रामेश्वरी की भी वही दशा होने लगी, जो उसकी स्वर्गीया सौतों की रही होगी। दीक्षितजी उसकी रोटियों तक को गिनने लगे और यह उपदेश देने लगे कि अधिक खाना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। दृष्टान्त-स्वरूप उन्होंने अपनी पूर्व पत्नियों का उल्लेख करते हुए कहा कि वे उनके पीछे चोरी-छिपे आवश्यकता से अधिक खा लिया करती थीं, इसलिए उन्हें नाना रोगों ने आ घेरा और एक-एक करके तीनों चल बसीं।

रामेश्वरी को समझने में देर न लगी कि उनकी सौतों की मृत्यु का वास्त-विक कारण क्या रहा होगा, क्योंकि वह स्वयं अपने शरीर में रोग के संचार

का अनुभव करने लगी थी। पड़ोस की स्त्रियों से भी उसने सुना कि दीक्षितजी की तीनों पूर्व पत्नियों को मरते दम तक किस तरह भरपेट भोजन के लिए तरस-तरसकर रह जाना पड़ा था, और किस प्रकार वे पड़ोसियों के यहां जाकर रोटी मांग-मांगकर लुक-छिपकर खाया करती थीं। उसे अपने सूने घर में दिन-दहाड़े ऐसा मालूम होने लगा, जैसे उनकी तीन मृत सौतों की प्रेतात्माएं अपनी हाय-भरी आहों से सारे वातावरण को भाराक्रान्त कर रही हैं। सोचते-सोचते वह थरथर कांपने लगी। कभी-कभी उसके मन में यह सन्देह होने लगता कि उनका पति स्वयं कोई मनुष्य-रूपधारी प्रेतात्मा तो नहीं है। उसने कुछ कहानियों में सुन रखा था कि मृतात्माएं अपने पूर्व जन्म का बदला चुकाने के लिए पति-पत्नी अथवा पुत्र-मित्र के रूप में आकर प्रकट होती हैं और घनिष्ठता जोड़ती हैं और जीवित प्राणी को अत्यन्त कष्ट देकर आत्मा का सारा सत्त्व धीरे-धीरे चाटकर अन्त में अकाल में ही उसे यम के द्वार पर पहुंचा देती हैं। जब इस अद्भुत और भयावह भावना ने उसके मस्तिष्क को जकड़ लिया, तो वह उससे मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगी। एक बार उसके मन में यह बात समाई, कि किसीसे कुछ न कहकर चुपचाप भागकर अपने मायके चली जाए। फिर उसने सोचा कि यह मूर्खता है और इससे लोगों में अपनी तथा अपने मायके-वालों की हंसी कराने के सिवा और कोई लाभ न होगा।

धीरे-धीरे उसने अपने मन को स्थिर किया। उसके मन में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति फिर एक बार प्रबल रूप से जाग पड़ी। उसने सोचा कि उसके पति रूपधारी प्रेतात्मा ने उसकी तीन सौतों को निगल डाला है, तो उसे उन सौतों की हाय-भरी आत्माओं की अज्ञात सहानुभूति का बल प्राप्त करके उसका बदला चुकाना होगा।

बहिन भामा, तुमको रामेश्वरी के सम्बन्ध में मेरी बातें अवश्य ही शेख-चिल्ली की कहानी की तरह असम्भव और अस्वाभाविक लग रही होंगी। तुम मन ही मन कहती होगी कि एक हिन्दू नारी, चाहे वह कैसी ही अत्याचार-पीड़िता क्यों न हो, किसी हालत में अपने पति से बदला लेने की बात नहीं सोच सकती। पर बहिन, तुम्हें याद रखना चाहिए कि 'संसारोऽयमतीव विचित्रः'—यह संसार बड़ा विचित्र है। इस विपुल विश्व में, सभी काल में, सभी देशों में, ऐसी स्त्रियां वर्तमान रही हैं जिनकी मनोवृत्तियां विचित्र परि-स्थितियों के चक्कर के कारण लोगों को अत्यन्त रहस्यमयी तथा अस्वाभाविक-सी मालूम हुई हैं। हमारे देश में भी कभी इस प्रकार की स्त्रियों का अभाव नहीं रहा। 'तिरिया चरित्र' सम्बन्धी नाना लोकोक्तियां इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं। मेरी बात का गलत अर्थ न लगाना। 'तिरिया चरित्र' का उल्लेख करके नारी-जाति पर छींटा कसने का उद्देश्य मेरा कदापि नहीं है।

बल्कि मैं दावे के साथ कह सकती हूं कि जिन स्त्रियों पर हमारे यहां 'त्रिया चरित्र' का दोष आरोपित किया जाता है, उनमें से अधिकांश ऐसी होती हैं जिन्हें लोगों ने कभी मनोविज्ञान की सहृदयतापूर्ण अन्तर्दृष्टि से नहीं देखा और पोंगापन्थी नीति की कसौटी पर कसकर अनन्तकालीन अविचार के वज्र-अभिशाप द्वारा उन्हें भस्म किया है। रामेश्वरी के सम्बन्ध में भी मैं यही बात कहना चाहती हूं। यह बात भी ध्यान में रखना कि रामेश्वरी के जीवन की बातें मैं उसीके मुंह से सुनकर अपनी शैली में तुम्हारे आगे व्यक्त कर रही हूं।

मैं कह रही थी कि कुछ समय नाना द्वन्द्वात्मक तथा द्विविधापूर्ण विचारों के आलोड़न-विलोड़न के अनन्तर रामेश्वरी के मन में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति प्रबलता से जाग उठी। वह अज्ञात प्रवृत्ति जब सरल पशुओं के अन्तर में भी जाग्रत् हो उठती है, तब बड़े-बड़े करिश्मे कर दिखाती है। रामेश्वरी के भीतर भी इसने बड़े-बड़े चमत्कार दिखाने शुरू किए। उसके मन से भय की भावना एकदम तिरोहित हो गई और आत्मविश्वास का भाव जाग पड़ा। अब वह पति की किसी भी आक्रोशपूर्ण बात से सहमत न थी। अपनी इच्छानुसार सब काम करती थी और पति की डांट की तनिक भी परवा न करती थी। जब दीक्षितजी असह्य क्रोध से उन्मत्त होकर उसे मारने दौड़ते, तो वह भी एक लकड़ी पकड़कर प्रत्याक्रमण के लिए तैयार हो जाती और कहती—"खबरदार! मुझे अपनी पिछली तीन स्त्रियों की तरह न समझना। तुमने भूत की तरह लगकर एक-एक करके तीनों को मारा है, अब मैं तुमपर भूत की तरह लगूंगी और ठिकाने से न रहे तो तुम्हें, तुम्हारे घर को और तुम्हारी सारी सम्पत्ति को खा जाऊंगी।"

जिस दिन दीक्षितजी ने प्रथम बार अपनी स्त्री के मुंह से इस प्रकार के वाक्य सुने, उस दिन दरअस्ल उनके होश-हवास उड़ गए और वह स्तब्ध होकर निस्पन्द दृष्टि से उसे देखते रहे। फल यह हुआ कि उन्होंने हाथ चलाना और डांटना-डपटना छोड़ दिया। क्रोध आने पर वह मन मसोसकर चुप रह जाते, पर अक्षम की तरह कोसना-कलपना उन्होंने नहीं छोड़ा। वह कहते—"अपने पति की आत्मा को तू इतना कष्ट दे रही है, इसका फल अच्छा नहीं होगा। पति अंधा, लंगड़ा, लूला, बूढ़ा कैसा ही हो, उसकी सेवा ही स्त्री का परम धर्म है, ऐसा हमारे शास्त्रों में कहा गया है। तू शास्त्रों का उल्लंघन कर रही है, इसलिए इसका नतीजा…" आदि-आदि।

इसपर रामेश्वरी कटु व्यंग्य के साथ कहती—"वाह रे दन्ती! (उसने दीक्षितजी के दो बहिर्गत दांतों के कारण उनका यह उपनाम रख दिया था। उसके उच्चारण-मात्र से उसका जला-भुना कलेजा ठंडा हो जाता था।) इस प्रकार उपदेश बघारते हुए तुम्हें तनिक भी लाज नहीं मालम होती! बूढ़े

बाबा, जब तीन-तीन पत्नियों को ब्रह्मदैत्य की तरह निगलकर चौथी लाए थे तो क्या इसीलिए कि उसे भी भूखों मारकर सहज में चबा जाएंगे ? पर यह टेढ़ी खीर गले के नीचे उतरने की नहीं, याद रखना ! वह लोहे के चने चबवाऊंगी कि नाना याद आ जाएंगे । आए हैं बड़े सती-धर्म का पाठ पढ़ाने । थू पड़े ऐसे पति पर !" कहकर वह सचमुच थूक देती ।

पर दीक्षितजी सहज ही चुप किए जा सकने वाले जीव न थे । यद्यपि हाथ खुजलाने पर भी हाथ चलाने का साहस अब उनमें नहीं रह गया था, तथापि मार्मिक वचन सुनाने से वह भी बाज़ न आते । कहते—"पूर्व जन्म के पापों से तुम इस जन्म में मेरे पल्ले पड़ी हो । मैं तो तब भी ब्राह्मण हूं, पर इस जन्म के पापों से अगले जन्म में न मालूम किस चमार से तुम्हारा पल्ला बंधेगा !"

पर मुंह से कुछ भी कहें, दीक्षितजी अब वास्तव में पत्नी की प्रबल इच्छा-शक्ति के आगे परास्त हो गए थे और यथाशक्ति उसकी प्रत्येक इच्छा को पूरा करने की चेष्टा करते थे। पति-पत्नी में आपस में चख-चख होती रहती थी, पर गिरस्ती का सब काम नियमित रूप से चलता जाता था। विश्वास करना कठिन होने पर भी यह बात सत्य है कि रामेश्वरी ने यथासमय एक पुत्र सन्तान को जन्म दिया । लड़के की आकृति अविकल दीक्षितजी के अनुरूप थी । अन्तर केवल इतना ही था कि अभी पिता की तरह उसके मुंह से दो दांत नहीं निकले थे, पर उपयुक्त समय में उनके भी निकलने के लक्षण दिख रहे थे । रामेश्वरी के अन्तःकरण से इस बच्चे के प्रति घृणा तथा स्नेह की दो प्रबल प्रवेगशील धाराएं समान रूप से बहने लगीं । पति का प्रतिरूप अपने पुत्र में पाने से उसकी चिरप्रेम-तृषा से सन्तप्त आत्मा तृप्त न होकर और भी अधिक असन्तुष्ट हो उठी। पर दीक्षितजी तो मानो परम निधि पा गए । उन्होंने उसका नाम रखा था कालिकाप्रसाद और लाड़ से उसे कल्लू कहकर पुकारते थे । एक तो सहज अपत्यस्नेह, तिसपर उसके प्रति पत्नी की उदासीनता ने उसकी ओर उन्हें और भी अधिक आकर्षित कर दिया। वह दिन और रात उसीकी सेवा में रत रहकर, उसके पास बैठकर, उसे गोद में लेकर, उसकी अपने अनुरूप छवि निहारकर परम पुलकित रहने लगे । जब बाहर कहीं काम से जाते तो पुत्र की विछोह-वेदना से अन्यमनस्क-से रहते । यदि सच पूछो तो उन्होंने उसे तीन वर्ष पाल-पोसकर जीवित रखा । नहीं तो माता की उदासीनता उसे साल-भर भी जीने न देती। वह उसे अपने हाथ से दूध पिलाते, अपने हाथ से नहलाते, अपने हाथ से कपड़े पहनाते, उसकी विस्मित, घृणित आंखों की ओर एकटक निहारकर पुलक-विह्वल होकर उसका मुंह चूमते । जब वह तुतलाकर बोलना सीख गया और 'बाबूदी, अमाले लिए मिताई लाओ !' कहने लगा तो दीक्षितजी की आत्मा में आनन्द अबाध गति से तरंगित होने लगा। वह उसके लिए नित्य नई-नई

चीजें लाकर उसे खिलाते थे। इस सम्बन्ध में उनकी कृपणता लज्जित होकर अपना मुंह छिपा लेती थी। दीक्षितजी ने मितव्ययिता की प्रेरणा से अपनी जिह्वा को जिस हद तक संयत कर रखा था, कल्लू उसी परिमाण में चटोर और रस-लिप्सु हो उठा। रामेश्वरी को उसका वह चटोरपन बिलकुल अच्छा न लगता था, और वह भरसक उसे भोज्य पदार्थों के प्रलोभन से बचाए रखने की चेष्टा करती। वह कहती—"लड़के को अभी से चटोर बनाकर पीछे मेरी ही तरह भूखों मारने का विचार है क्या ?"

दीक्षितजी कहते —"तेरे बाप के घर से चोरी करके तो उसे नहीं खिला रहा हूं। मैं अपने बेटे को कुछ भी खिलाऊं, इससे तुझे क्या !"

कल्लू अपनी मां से बहुत डरता था, अपने पशु संस्कार से वह शायद समझ गया था कि उसकी मां केवल बाहरी तौर से नहीं, बल्कि अपने अन्तःकरण से उसे घृणा करती है। वह घड़ी-घड़ी अपने बाबूजी से शिकायत करता रहता—"मां बड़ी खराब है।" दीक्षितजी सहमति प्रकट करते हुए उसका मुंह चूमते। जब दीक्षितजी और रामेश्वरी के बीच बातों की गरमा-गरमी होने लगती, तो वह दीक्षितजी का पक्ष लेकर मां की ओर झपटकर कहता—"मारूंगा।"

पर रस-लिप्सा के कारण कल्लू पेट की बीमारी से पीड़ित रहता, और वह बीमारी बढ़ते-बढ़ते एक दिन उत्कट अतिसार के रूप में परिणत हो गई जो उसके प्राण लेकर ही शान्त हुई। दीक्षितजी सिर पीटकर और दाड़ें मारकर रोने लगे। रामेश्वरी भी रोई, पर अधिक नहीं।

पुत्र-शोक और पत्नी की घृणा से निःशक्त होकर दीक्षितजी पस्त पड़ गए। दिन-दिन उनका स्वास्थ्य तेज़ी के साथ गिरता चला गया। अन्त में एक दिन उन्हें बड़े ज़ोरों से रक्त-वमन हुआ और वह रोग उन्हें कुछ ही दिनों के भीतर धराधाम से ले गया। इस प्रकार पुत्र की मृत्यु के प्रायः छः महीने बाद उन्होंने भी उसका अनुसरण किया।

हिसाब लगाने पर मालूम हुआ कि वह प्रायः तीन लाख रुपया सचल और अचल सम्पत्ति के रूप में छोड़ गए थे। रामेश्वरी इस सम्पत्ति की एकमात्र उत्तराधिकारिणी थी। वह मायके चली गई। मैंने तब उसे देखा था। उसकी आकृति ही बिलकुल बदल गई थी। मुंह सूखा हुआ था और आंखों में एक विचित्र विभ्रान्ति का भाव दिखाई देता था। पर पति और पुत्र की याद दिलाए जाने पर वह बिलकुल रोती न थी, केवल एक उन्मन, अर्द्धचेतन-सा भाव उसके मुंह पर थोड़ी-सी कालिमा ला देता था।

धन-सम्पत्ति का सारा प्रबन्ध उसने अपने चाचा को सौंप दिया। आवश्यकता पड़ने पर वह बीच-बीच में तीस, चालीस और ज्यादा से ज्यादा कभी पचास रुपया मांग लेती थी। पर उसने देखा कि इस हिसाब से उसे तीन लाख

को सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होने का अनुभव किसी अंश में भी नहीं होता। गरीब घर की लड़की कंजूस पति को ब्याही गई थी। अपनी साधारण आवश्यकताओं के अतिरिक्त और किन-किन मदों में रुपया खर्च किया जा सकता है, यह वह नहीं जानती थी। फिर भी अपनी आकस्मिक धनाढ्यता का अनुभव वह उसी रूप में करना चाहती थी जिस प्रकार नवीन माता अपने बच्चे को गोद में लेकर अपने मातृत्व की पूर्णता का अनुभव करना चाहती है। एक दिन उसने अकस्मात् अपने चाचा से अनुरोध किया कि उसके लिए दो हज़ार रुपये बैंक से ले आवें, साथ ही यह भी कहा कि नोट एक भी न हों, सब चांदी के ही रुपये हों। उसके चाचा ने बेकार इतने रुपयों को एकसाथ मंगाने की मूर्खता पर बहुत कुछ कहा, पर उसने एक न सुनी और कहा—"अगर तुम नहीं लाना चाहते तो मैं स्वयं जाकर ले आऊंगी।" लाचार चाचाजी ने चेक में सही करवा के दो हज़ार की दो थैलियां लाकर उसके सामने रख दीं। रामेश्वरी ने उन्हें स्वयं गिनने की इच्छा प्रकट की। इसलिए नहीं कि चाचा पर उसे अविश्वास था, बल्कि कौतूहलवश अपने हाथों से उन रुपयों को वह स्पर्श करना चाहती थी।

फर्श पर एक चादर बिछाकर उसके चाचा ने दोनों थैलियां खाली करके जब उसके सामने रुपयों का ढेर लगा दिया, तब वह बहुत देर तक विस्फारित नेत्रों से एकटक उन रुपयों की ओर ताकती रह गई, जैसे किसीने 'हिप्नोटाइज़' कर दिया हो। बस, उसी समय से वह उन्मादग्रस्त हो उठी। स्थिर दृष्टि से देखते-देखते जब उसकी आंखें पथराने लगीं तब उसने एक विचित्र विभ्रान्त मुसकान से एक बार रुपयों की ओर देखते हुए कहा—"ये सब मेरे हैं? चाचा, सच कहो, इतने सब रुपये क्या मेरे हैं, और किसीके नहीं? सब मेरे?"

चाचा ने कहा—"हां बेटी, ये सब तेरे हैं!"

वह उत्तेजित होकर बोली—"तब तुम सब लोग यहां क्यों खड़े हो? यहां भीड़ क्यों लगा रखी है? जाओ, जाओ, सब यहां से जाओ। मैं किसीको एक पाई न दूंगी। न न जाओ! तुम सब मुझे लूटना चाहते हो!"

यह कहकर उसने हाथ से धक्का देकर सब लोगों को हटा दिया। इसके बाद वह दोनों मुट्ठियों से रुपयों को पकड़कर खन-खन करके फिर उसी ढेर के ऊपर डालने लगी। बहुत देर तक वह ऐसा ही करती रही। इसके बाद शंकित दृष्टि से इधर-उधर देखकर उसने थैलियों में रुपयों को भरना शुरू कर दिया। भरने के बाद उन थैलियों के मुंह अच्छी तरह डोरी से बंद करके दोनों थैलियों को एक-एक करके बड़ी मुश्किल से उठाकर अपने पलंग पर ले गई। सिरहाने उन्हें रखकर वह कमरा बन्द करके लेट गई। थोड़ी देर बाद फिर उन्हें खोलकर गिनने लगी। फिर थैलियों में भरकर वह लेट गई।

तब से बराबर उसका यही कार्यक्रम जारी है। थैलियों को खोलती है और थोड़ी देर तक अपने मस्तिष्क के निराले गणित के अनुसार रुपयों को गिनकर फिर बन्द कर देती है। फिर खोलती है, फिर गिनती है, फिर बन्द कर देती है। अक्सर उसे इस प्रकार बड़बड़ाते हुए सुना जाता है—"क्या देखते हो ? रुपयों में हाथ लगाया तो इन्हीं रुपयों से दोनों दांतों को तोड़ दूंगी। इनमें अब तुम्हारा कोई हक नहीं है। ये मेरे हैं।"

बहिन भामा, रामेश्वरी की कथा पढ़कर तुम्हें भी अवश्य ही दुःख होगा। कौन जानता था कि बचपन में हमारे दल की वही नेत्री, जिसका रोब-दाब देखकर हम सब थर्राया करती थीं, उसका अन्त में यह हाल होगा! नियति की लीला विचित्र है। अपनी कुशल समय-समय पर देते रहना।

तुम्हारी चिर-परिचिता—विमला

डाक्टर की फीस

"आ-आ-ऽ ! आ-आ-ऽ ! आ-ऽ-ऽ-ऽ !"

ऊपर कोठे पर से एक बहुत ही धीमी, ऊंघती और कराहती हुई-सी आवाज़ दुमंज़िले से छत को जानेवाले ज़ीने से ही कानों में भनकती है। दो बांके युवक दबे-पांव दो सीढ़ियां चढ़कर ठहर-से जाते हैं। एक सांवले रंग का मझोले कद का आदमी, जिसके सिर के रूखे बाल आधे बिखरे हैं और जिसकी जुड़ी हुई भौंहों के नीचे आंखों के दो बिलों में दो चिनगारियां दहकती-सी मालूम होती हैं, तहमत के ऊपर एक मैली-सी बनियाइननुमा बंडी पहने है। वह फटी-सी आवाज़ में कहता है, "चले आइए बाबूजी, बहुत अच्छा माल है। आपकी तबीयत खुश हो जाएगी !"

दोनों बाबू धीमे-से, दबे-पांव फिर ऊपर चढ़ने लगते हैं। उनमें से एक ऊंची बाढ़वाली गुजराती फैल्ट टोपी, रेशमी कुर्ता, मखमल को मात देने वाली धोती और पेटेंट लेदर की चप्पल पहने हैं, और दूसरे साहब कमीज़, पैण्ट और पेशावरी सैंडिल।

"आ-आ-ऽ ! आ-आ-ऽ ! आ-ऽ-ऽ-ऽ !" की आवाज़ एक विचित्र और कुछ-कुछ भयावनी एकरसता के साथ कानों के पर्दों से होकर धीरे-से भीतर प्रवेश करती है और मन के तारों से टकराकर अत्यन्त अप्रिय स्वर में गूंजने लगती है।

तीनों छत में पहुंचते हैं। बाहर एक भी बत्ती जली नहीं है। पास ही एक कमरे के बाहर क्षीण प्रकाश झलक रहा है। उसीके सहारे दोनों बाबू तहमत वाले का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ते हैं। आदमी कमरे के दरवाज़े के भीतर खड़ा हो जाता है और कहता है—"चले आइए।" दोनों दबे हुए पांवों से धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं और दरवाज़े के पास पहुंचकर भीतर की ओर देखते ही ठिठककर खड़े रह जाते हैं। कमरे में बिजली की बत्ती नहीं, लालटेन जल रही है, जिसकी चिमनी मिट्टी के तेल के धुएं की कालिख से इस कदर काली हो गई है कि बत्ती की टेढ़ी-मेढ़ी शिखा एकदम आग की तरह लाल दिखाई देती है। बांस की एक खटिया पर मैली-सी चादर के ऊपर एक नारी मैले कपड़े पहने लेटी ऊंघ-सी रही है। उसी ऊंघती हुई हालत में बगल में लेटे हुए एक साल-डेढ़ साल के बच्चे की पीठ धीरे-से, सम्भवतः अभ्यासवश, थपथपाती हुई बहुत

ही थके हुए स्वर में, जैसे अनमने भाव से कहती जाती है—"आ-आ-ऽ! आ-आ-ऽ! आ-ऽ-ऽ-ऽ!"

"जमुना उठ, देख तो, कोई बाबू आए हैं।" तहमत वाला खटिया को हिलाते हुए रूखे स्वर में कहता है। वह बड़बड़ाती हुई उठ बैठती है और मुरझाई हुई-सी हताश आंखों से दोनों की ओर देखती है। उसके मुख पर का 'पौडर' मुरझा चुका है, गालों की उभरी हुई हड्डियों के नीचे दो गहरे गढ़े पड़े हुए हैं। कपाल की उभरी हड्डी के नीचे आंखें इस कदर भीतर को धंस गई हैं कि पलकें तक छिप गई हैं। छोटी-सी चपटी नाक शरमाकर सिकुड़ गई है। होंठों का बाईं तरफ वाला भाग एकदम खून की तरह लाल है और दाहिनी तरफ वाला काजल से भी काला। छोटी-सी ठुड्डी अंजीर की तरह लटकती हुई-सी लगती है।

दोनों युवक एक झलक देखकर इस फुर्ती से लौट जाते हैं, जैसे कोई भूत देखकर भागना चाहते हों। खटिया पर बैठी हुई स्त्री कुछ समय तक हक्की-बक्की आंखों से बाहर की ओर देखती रह जाती है, उसके बाद तहमत वाले की ओर हिंसक आंखों से देखती हुई कहती है—"तुम मेरी इस हालत में भी उन लोगों को सीधे ऊपर बुला लाए?"

"किसे खबर थी कि तू अभी तक इस तरह पड़ी होगी? दीया जले इतनी देर हो गई और अभी तक मुंह धोकर कपड़े पहनकर तैयार नहीं हो पाई। दिन पर दिन तेरी आदतें बिगड़ती चली जा रही हैं!" खीझ-भरे स्वर में झल्लाता हुआ तहमत वाला कहता है।

"हूं! और तुम इस कदर कमीने हो उठे हो कि सब कुछ देखकर भी नहीं देखना चाहते।" दांत पीसती हुई जमुना कहती है—"एक हफ्ते से बच्ची बीमार है और आज यह हालत हो गई है कि बुखार से एकदम बेहोश पड़ी है। सारा बदन तवे-सा जल रहा है। तिसपर भी कहते हो कि अभी तक तैयार नहीं हो पाई! गलकर मरोगे, मुंह में कीड़े पड़ेंगे, देख लेना। धरती इतना अन्याय कभी नहीं सहेगी। कभी एक बार भी तुमने झूठे मुंह यह नहीं पूछा कि बच्ची का क्या हाल है? न किसी डाक्टर को दिखाया, न वैद्य को, न हकीम को, और ऊपर से यह रोब कि···खुद मैं इतने दिनों से मीठे बुखार से पस्त पड़ी हुई हूं। हड्डी-हड्डी टूटी जा रही है, खटिया से नीचे उतरने की ताकत तक नहीं रह गई है। पर तुम्हें इन बातों से क्या वास्ता! तुम ऐसे कफन-खसोट हो कि पैसों के सिवा तुम्हें और किसी बात की फिकर नहीं है। अगर मेरी एक-एक हड्डी, एक-एक पसली बेचकर भी तुम्हें पैसे मिल सकें तो तुम तैयार हो। तुम इतने बड़े चमार हो! अपनी इन आंखों से मैं तुम्हें सड़-गलकर तड़प-तड़पकर मरते देखना चाहती हूं···"

"तू मरते हुए जब देखेगी तब देखेगी, पर मैं तुझे अभी प्रत्यक्ष मरते हुए देख रहा हूं। अभी तुझे न जाने दुर्गति की किस हद तक पहुंचना है। साक्षात् भुतनी-सी लगने लगी है। कोई गाहक फंसने वाला हो भी तो कैसे फंसे ! चल उठ जल्दी ! हाथ-मुंह धो, पौडर और लिपिस्टिक लगा और कपड़े बदलकर बाहर कोठे पर चल। आज चार दिन से मेरा हाथ तंग है। एक पैसा कमाकर तूने नहीं दिया। एक पौवा क्या, एक छटांक तक पीने को नहीं मिली है। ज़बान सूखकर कांटा हो गई है···चल उठ !" कहकर वह उस असहाया का हाथ अपनी मुट्ठी में कसकर उसे खटिया के नीचे खींचता है। वह पूरी ताकत से प्रतिरोध करती है, पर तहमतधारी उसे गुसलखाने की ओर घसीटे लिए जाता है।

"छोड़ो ! छोड़ो ! नहीं तो मैं तुम्हारा गला घोट डालूंगी।" वह छटपटाती हुई रोने के स्वर में कहती है। उसका हाथ दांतों से काटकर अपने को छुड़ाती है. "तुम आदमी नहीं पिशाच हो।" वह फिर कहती है, "मरघट का चांडाल भी इस तरह कफन नहीं खसोटता जिस तरह तुम इतने बरसों से बूंद-बूंद चूसकर मेरी मरी हुई खाल खींचते चले जा रहे हो ! और तिसपर घाव में माहुर देने के लिए ऐसे मरम वचन बोल रहे हो ! मैं साक्षात् भुतनी लगती हूं तो इसमें मेरा दोष है ? कमीने, कसाई ! यह क्यों भूल जाता है कि जब तू चिकनी-चुपड़ी बातों से लुभाकर, तरह-तरह के लालच दिखाकर मुझे अपने साथ भगा ले आया था तब तो मैं भुतनी नहीं थी ! तब मेरी तन्दुरुस्ती का यह हाल था कि तू ही कहा करता था, 'वह कौन-सी दवा है, मुझे भी बता दे, जिसे खाकर तू दिन-पर-दिन लाल हुई चली जाती है।' और आज मैं सचमुच भुतनी-सी लगती हूं, मैं जानती हूं। ढाई साल के भीतर मेरा यह हाल हो गया है ! किसके दोष से ? तूने तब कहा था, लखनऊ में मेरी कपड़े की बहुत बड़ी दुकान है। मैं तुमसे व्याह करूंगा और दोनों सुख से रहेंगे। तब मैं भोली लड़की थी; नई जवानी मुझपर छाई हुई थी, इसलिए आंखें मूंदकर तेरे साथ चली आई। तब मुझे क्या पता था कि तू इतना बड़ा शैतान निकलेगा। लाला के यहां चौका-बर्तन करती थी, उनके बच्चे को खिलाती थी, जो थोड़ा-बहुत रुपया मिलता था उसे गरीब मां-बाप को दे देती थी और खुद रूखा-सूखा खाकर मुसीबत की जिन्दगी बिताती हुई भी खुश थी। बीच में तू मुझे बरबाद करने के लिए कहां से आ कूदा ! तूने मुझे मार-मारकर मजबूर किया कि मैं पेशेवर औरतों की जिन्दगी बिताऊं। जिन्दगी सबसे प्यारी है। न चाहने पर भी मैं पेट की खातिर इस नरक में गले-गले तक डूब गई, पर डूबकर भी पेट न भर सकी। उस कीचड़ को उलीचकर जो थोड़े-बहुत पैसे बटोर पाई थी उनपर तू बराबर चील की तरह झपट्टा मारकर मेरे लिए एक पैसा भी नहीं छोड़ता

रहा। तुझसे चुराकर कभी कुछ कमाने का मौका मिल जाता तो उनसे पेट भर लेती, नहीं तो मुझे ज़्यादातर भूखा ही रहना पड़ा है। तुझे या तो अपने पौवे की फिक्र रही है या उस चुड़ैल की, जिसने तुझ जैसे कफन-खसोट को भी नंगा-बूचा बना दिया है, और जो अब तुझे जूते मारकर बाहर निकाल देती है। तेरी ही ख़ातिर मेरी यह दुर्गति हुई है और आज तू ही मुझसे कहता है, 'भुतनी!' और तिसपर कमीनेपन की हद देखो कि अभी तक मेरा पीछा नहीं छोड़ रहा है। मेरी बच्ची मर रही है, मैं खुद बीमार हूं, पर फिर भी तुझे ज़रा भी तरस नहीं आता। मेरी इस हालत में भी तू यह चाहता है कि तेरा पौवा जुटाने के लिए मैं···डाक्टरी इलाज के बिना, दवा के बिना मेरा सरवस छिन रहा है, मैं बेबस पड़ी हूं। यह सब देखते हुए भी तू अपने कसाईपन से बाज़ नहीं आता। धिक्कार है ऐसे नीच पर, थू पड़े ऐसे बदज़ात पर!" और वह ज़ोर से 'थू!' कहती हुई सचमुच उसकी ओर थूकती है।

तहमत वाला हांफता हुआ उसकी ओर विकट, भयावनी दृष्टि से देखता है और दांतों को पीसता हुआ अपने दाहिने हाथ की पतली और लम्बे नाखून वाली उंगलियों को इस तरह नचाता है जैसे बिल्ली की तरह अपने शिकार पर झपटना ही चाहता हो।

"मुझे पैसा चाहिए, पैसा!" वह दांतों को किटकिटाता हुआ कहता है, "जहां से हो, जैसे भी हो, मुझे तीन रुपये अभी चाहिए। अगर तू जल्दी इन्तज़ाम नहीं करती है तो मैं तेरे कपड़े बेचकर इन्तज़ाम करूंगा···तूने कुछ रुपये छिपाकर रखे हैं, मुझे मालूम है। निकालकर मुझे जल्दी दे, नहीं तो आज तुझे जीता नहीं छोड़ूंगा···"

"हां मेरे पास हैं कुछ रुपये, पर मैं नहीं दूंगी तुझे। जो कुछ करना है कर ले।" वह ज़िद के साथ कहती है।

"नहीं देती? तो आज मैं फांसी पर ही चढ़ूंगा।" और वह उसका गला दबा लेता है। बाहर कहीं से आवाज़ आती है, "श्यामलाल है?" अपना नाम सुनकर वह गला छोड़कर दरवाज़े के पास जाता है। भीतर से किवाड़ बन्द कर देता है, फिर लौटकर उस असहाय नारी का गला पकड़ लेता है। वह कभी नाखून से उसका मुंह नोचती है और कभी उसके बालों को खींचती है। वह सहसा गला छोड़कर कमरे के चौखटे पर जाता है और एक पुराना जूता उठाकर उसके सिर पर पटापट मारना शुरू कर देता है। वह थक जाने के कारण प्रतिरोध करने में अपने को असमर्थ पाती है। धम्म से फर्श पर बैठकर दोनों हाथों को दोनों ओर फैलाकर हांफती हुई कहती है, "मार, मार हत्यारे! जितना तेरा जी चाहे मार ले! खून कर डाल, यही अच्छा है।" बिखरे हुए बालों के गुच्छे से उसकी दोनों आंखें ढक गई हैं। उसका चेहरा पहले से भी भयावना

लगने लगता है। कमरे की लालटेन बुरी तरह धुआं दे रही है।

श्यामलाल उसे छोड़कर खटिया के नीचे घुस जाता है और एक पुराने बक्स को घसीटकर बाहर निकालकर हाथ के झटके से उसके छोटे-से ताले को तोड़ने लगता है। दो-तीन झटकों में ही ताला खुल जाता है। जमुना जैसे मरते-मरते फिर उठ बैठती है और पीछे गर्दन से उसकी बंडी पकड़कर खींचती हुई कहती है, "उसमें हाथ लगाओगे तो ईंट से हाथ तोड़ डालूंगी।

पर वह बक्स खोलकर टटोलता रहता है। एक कोने में एक मैले कपड़े के चिथड़े में बंधे हुए दो रुपये निकालकर अपनी अंटी में दबा लेता है। जमुना छीनने की कोशिश करती है, पर वह झटके से अपने को छुड़ाकर भाग निकलता है। जमुना फर्श पर पछाड़ खाकर लेट जाती है। बहुत देर तक उसी हालत में लेटी रह जाती है खटिया पर पड़ी उसकी बच्ची बहुत ही क्षीण स्वर में कराहती हुई रोने की कोशिश करती है, पर रो नहीं पाती। जमुना के कानों में आवाज जाती है, पर वह फिर भी उसी तरह औंधी पड़ी रह जाती है।

बच्ची का छटपटाना बढ़ता जाता है, जिससे खसर-खसर की आवाज़ होती है। अन्त में जमुना कमर पर बायां हाथ रखकर धीरे से उठ बैठती है। उसकी आंखें रोने से लाल दिखाई देती हैं। धुमैली लालटेन की बत्ती की तरह ही खटिया पर धीरे से बढ़कर वह अपना झूलता हुआ निःसत्व स्तन बच्ची के मुंह पर लगाती है। बच्ची अभ्यासवश चूसने का प्रयत्न करती है पर फिर तत्काल ही उसे छोड़कर मुंह फेरने लगती है। जमुना उसकी पीठ थपथपाती रहती है और अनमने भाव से "आ-आ-ऽ! आ-ऽ-आ-ऽ! आ-ऽ-ऽ-ऽ!" कहती हुई न जाने क्या सोचती जाती है।

कुछ देर बाद उसका थपथपाना बन्द हो जाता है। हाथ बच्ची की पीठ पर निश्चल पड़ा रहता है। वह ऊंघने लगती है। लालटेन की कालिख से पुती हुई चिमनी के भीतर लाल बत्ती धप्-धप् जलने लगती है और उसकी दो सींगों-सी लम्बी शिखाएं एकदम चोटी तक पहुंच जाती हैं। छोटे-छोटे पतंगे उन्हें घेरकर चिमनी पर चट-चट शब्द करते रहते हैं।

सहसा वह चौंक-सी उठती है और उचककर उठ बैठती है। खटिया से उतरकर लालटेन के पास जाती है और उसके नीचे के पेच घुमाकर बत्ती को नीचे सरकाती है। रोशनी कम हो जाती है, पर बत्ती 'धप्-धप्' आवाज़ करती रहती है।

वह खटिया के नीचे घुसकर बक्स को बड़े कष्ट से एक कराह के साथ खींचती है, फिर उसे खोलकर उसमें से एक सस्ते किस्म की लाल और हरे रंगों की मोटी धारियोंवाली साड़ी और उसीसे मिलता-जुलता जम्पर

सी निकालती है। साड़ी बंडल की तरह मुड़ी हुई है। जम्पर गुलाबी रंग के नकली रेशम का है और कई बार पहना हुआ-सा लगता है। किवाड़ भीतर से बन्द करके वह कपड़े बदलती है। उसके बाद आले पर रखे हुए एक छोटे-से फूटे शीशे के सामने खड़ी हो जाती है। वहां पर गुलाबी रंग की एक प्लास्टिक की कंघी रखी है, जिसके अधिकांश दांत टूटे हुए हैं। उससे बाल संवारने लगती है। कई दिनों से बिना धुले पड़े बालों की जटाएं-सी बन गई हैं। बड़े कष्टों से किसी तरह बालों को पीछे की ओर करके एक अधमैले पीले डोरे से जूड़ा बांधती है, उसके बाद चीनी मिट्टी की एक कुलिया के भीतर तेल में उंगली डालकर क्रीम की तरह की कोई चीज़ निकालती है और फिर दोनों हाथों में उसे मलकर गालों पर हाथ फेरती है। उसके बाद एक टीन के डिब्बे में रुई से पौडर निकालकर मुंह पर लगाती है और फिर कपाल को और गालों को धीरे से दोनों हाथों से मलती है। फिर दोनों गालों की उभरी हुई हड्डियों पर और उनके नीचे 'रूज़' लगाती है। सूखे हुए और काले-काले रंग के होंठों को किसी लाल चीज़ के टुकड़े से रंगती है। अन्त में दोनों भौंहों के बीच में खून की तरह लाल रंग की छोटी-सी टिकुली चिपकाती है। अनिपुण हाथों से किए गए इस अजीब-से शृंगार के कारण उसका प्रेत की तरह चीमड़ मुख और अधिक भयावना लगने लगता है। पर उसके चेहरे से पता चलता है कि उसे उस शृंगार से बहुत सन्तोष है। वह बार-बार शीशे में अपना मुंह देखती है। कभी बालों पर हाथ फेरती है और कभी गालों पर।

शीशे के पास से हटकर फिर वह खटिया के पास आती है। बच्ची की ओर अत्यन्त करुण, उदास आंखों से देखती है। बच्ची की सांस बड़ी तेज़ चल रही है। वह बेहोश-सी पड़ी है। बीच-बीच में करवट बदलने का प्रयत्न करती है, पर फिर आधी ही करवट बदलकर रह जाती है। एक लम्बी सांस लेकर जमुना दरवाज़े की ओर बढ़ती है। किवाड़ खोलती है, उसके बाद धीरे से लड़खड़ाते पांवों से ज़ीने से होकर नीचे उतरती है।

नीचे बीच वाली मंज़िल में बाहर की ओर के तंग बारजे पर तीन स्त्रियां साज-शृंगार किए हुए बैठी हैं और नीचे की तंग गली में आने-जानेवाले राहगीरों की ओर उत्सुक दृष्टि से देख रही हैं। जमुना भी वहीं आकर धीरे से एक बेंच पर बैठ जाती है। तीनों स्त्रियां उसकी ओर एक झलक देखकर व्यंग्य-भरी सांकेतिक मुस्कान से एक-दूसरी की ओर देखती हैं। उनमें जो लड़की सबसे जवान है वह बार-बार जमुना की ओर देखती है और बार-बार मुंह में रूमाल डालकर विचित्र ढंग से मुस्कराती है। जमुना उनकी ओर मुंह फेरकर, जंगले पर हाथ और हाथ पर ठुड्डी रखकर निर्विकार, उदासीन

नीचे आने-जानेवाले प्राय: सभी राहगीर ऊपर की ओर देखते रहते हैं। बीच-बीच में दो-एक राहगीर ऊपर चढ़ आते हैं और बारजे के पास जाकर बड़े गौर से एक बार चारों की ओर सरसरी नज़र डालते हैं। एक एक करके तीनों स्त्रियां विभिन्न गाहकों के बुलाने पर भीतर चली जाती हैं। बारजे में अकेली जमुना रह जाती है। जो भी आदमी आता है वह उसकी ओर देखते ही मुंह फेर लेता है।

बहुत देर हो जाती है और जमुना वहीं बैठी रह जाती है। कभी वह नीचे की ओर देखती है, कभी सामने की ओर। सामने वाले मकान के कोठे पर भी एक स्त्री हरे रंग की साड़ी और पीले रंग का ब्लाउज़ पहने बहुत देर से बैठी है। सूरत-शक्ल और साज-शृंगार से वह जमुना से भी भयानक लगती है। बैठे-बैठे जमुना के सिर में दर्द होने लगता है और चक्कर-सा आने लगता है। आज बहुत दिनों बाद उसे अपने ऊपर तरस आता है; अपने चेहरे पर भी और अपने पेशे पर भी। वह सस्ते दामों पर अपने को बेचने के लिए कोठे पर बैठी हुई है, पर कोई खरीदार ही नहीं मिलता, जबकि दूसरी सभी लड़कियां आसानी से गाहकों को खींचे ले रही है! उसके जड़ और प्राय: मृत मन पर आज पहली बार विद्रोह की एक चिनगारी जल उठती है। पर जलते ही बुझ जाती है। उसके मन में रह-रहकर केवल एक ही बात की चिन्ता सिर उठाती रहती है—किसी ग्राहक से दो-चार रुपया मिले और वह एक बार किसी डाक्टर या वैद्य को बुलाकर बच्ची को दिखाए—मन में यह मलाल न रह जाने पाए कि किसी डाक्टर या वैद्य को न दिखाने और कुछ भी इलाज न करने के कारण बच्ची मर गई। इसलिए वह फिर कमर कसकर भरसक धैर्य धारण करके गाहक की प्रतीक्षा में बैठी रहती है—दुःख और ग्लानि की सारी भावनाओं को वह घोलकर पी जाती है।

काफी देर हो गई है। प्राय: साढ़े बारह का समय होगा। नीचे गली में चलने-फिरनेवाले राहगीरों की संख्या कुछ घटी हुई-सी लगती है। जो दो-एक व्यक्ति उस तरफ से होकर गुज़रते हैं वे एक झलक उसकी ओर देखकर तत्काल आंखें फेर लेते हैं। सामने के मकान के कोठे पर बैठी हुई दूसरी स्त्रियों की ओर वे सतृष्ण नयनों से देखते रहते हैं। बाईस-तेईस वर्ष की एक स्त्री—जो पहले बारजे पर बैठी हुई थी और फिर किसी गाहक के साथ भीतर चली गई थी, फिर लौटकर आती है और जमुना से कुछ दूर हटकर एक टूटी कुर्सी पर बैठ जाती है।

प्राय: साठ वर्ष का एक बुड्ढा मलमल का कुर्ता (जिसपर दो-तीन जगह पीक के दाग पड़ गए हैं) और पीले किनारे की चुन्नटदार एकलाई धोती पहने, सिर पर पीले रंग का साफा बांधे और पांवों में पेटेंट लेदर के पम्प शू पहने उसी

बारजे पर आ खड़ा होता है। वह खारी-खारी से दोनों की ओर बिना कुछ बोले देखता रहता है। दूसरी स्त्री विचित्र मुस्कान-भरे हाव-भावों से उसे फंसाने का प्रयत्न करती है। वह भी मुस्कराता है। इस बार भी गाहक हाथ से जाते देखकर जमुना आव देखती है न ताव, सहसा उठकर तुरन्त बुड्ढे के निकट खड़ी हो जाती है और उसका हाथ पकड़ लेती है। अपने मुरझाए, पिचके और बीभत्स शृंगार के कारण हास्यास्पद, अधिक भयानक चेहरे पर बरबस मुस्कान झलकाने का प्रयत्न करती है। बहुत अधिक पान खाते रहने के कारण गन्दे और बहुत दिनों से बिना साफ किए हुए दांतों को बाहर निकालती है। बुड्ढा उसे देखकर घबराकर अलग हट जाने की कोशिश करता है, पर वह सहसा उसे अपनी दोनों बांहों में जकड़ लेती है। मन ही मन कहती है, 'डाक्टर! डाक्टर! मुझे हर हालत में डाक्टर की फीस जुटानी है। तुम्हें मैं यों ही नहीं जाने दूंगी।' और प्रकट में कभी बुड्ढे को इस तरह पुचकारती है जैसे वह एक छोटा-सा बच्चा हो, कभी अल्हड़ लड़कियों की तरह मचलने का-सा भाव जताती है और कभी गिड़गिड़ाती हुई आंखों से उसकी ओर देखती है। इसके बाद वह बुड्ढे का हाथ पकड़कर अपने साथ प्रायः खींच ले जाने का प्रयत्न करती है। इस बार बुड्ढा प्रतिरोध करता है और अपने को छुड़ाकर दूसरी स्त्री की ओर उंगली से संकेत करता है। वह स्त्री तत्काल उठ खड़ी होती है और बुड्ढे के साथ भीतर चली जाती है।

जमुना मर्माहत होकर अत्यन्त हताश दृष्टि से कुछ क्षणों तक उसी ओर देखती है जिस ओर वे दोनों गायब होते हैं। उसके बाद लम्बी सांस लेकर, गिरती-पड़ती उसी बेंच पर जाकर बैठ जाती है जहां वह पहले बैठी थी।

वह अनमने भाव से कभी नीचे गली में चक्कर पर चक्कर काटनेवाले आदमियों को देखती है, कभी सामनेवाले मकान की ओर। सामनेवाले मकान के बारजे में जो नई उम्र की लड़कियां सज-धजकर बैठी थीं उन्हें एक-एक करके गाहक मिल जाते हैं, पर हरे रंग की साड़ीवाली वह स्त्री, जो रूप-रंग में जमुना से भी अधिक डरावनी मालूम होती है, अभी तक बैठी ही है। उसे भी कोई गाहक अभी तक नहीं मिला है। बीच-बीच में जमुना उसकी ओर देखती है और वह जमुना की ओर। उस स्त्री के बाल कंघी से पान के पत्ते के आकार में इस तरह संवारे गए हैं कि दाहिनी ओर का आधा कपाल उनसे ढक गया है। उसके मुंह पर बहुत देर से लगे पौडर और रूज के फीके पड़ जाने के कारण चेहरा एकदम मुरझाया हुआ लगता है। वह ठुड्डी को जंगले की ऊपरवाली लकड़ी पर रखकर झुकी हुई-सी बैठी है और इसी मुद्रा में कभी जमुना को देखती है, कभी नीचे की ओर। उसके चेहरे पर निर्विकार उदासीन छाया घिरी हुई दीखती है और वह बीच-बीच में ऊंचे स्वर में, 'आ-ऽ-ऽ-ऽ'

शब्द करके जम्हाई लेती है और कभी-कभी उसके साथ अंगड़ाई भी। जमुना उसकी ओर देखकर आन्तरिक पीड़ा के साथ ही ग्लानि की भावना से भीतर ही भीतर सिकुड़-सी जाती है।

वह सोचती है कि इस स्त्री की और स्वयं उसकी अपनी तरह की कुरूप स्त्रियां क्यों देने को अपनाती हैं ? क्यों घंटों बारजों पर बैठकर इस तरह का अपमान सहती हैं ? उस बुड्ढे खूसट तक को जब वह राजी न कर सकी तब वह स्वयं किस उम्मीद से इतनी देर तक बैठी हुई है ? इससे बड़ी जलालत और क्या हो सकती है ! अच्छा तो यह होगा कि वह यदि और कोई दूसरा उपाय अपने लिए दो जून का खाना जुटाने का नहीं कर पाती है तो वह कल या तो विष खाकर मर जाए या गोमती में डूब मरे। कब तक जीवन के टूटे छकड़े को इस तरह घसीटा जा सकता है ! पर उसकी प्यारी बच्ची जो मर रही है ! उसके लिए डाक्टर की फीस का प्रबन्ध तो हर हालत में करना ही होगा। पर कैसे ? जैसा ढंग चल रहा है उससे तो यही लगता है कि सुबह होने तक एक भी गाहक उसे मिलना मुश्किल है। इसका अर्थ स्पष्ट ही यह है कि उसकी कुरूपता इधर बहुत बढ़ गई है—जितना वह शीशे में मुंह देखकर समझती है उससे भी कई गुना अधिक। ढाई वर्ष पहले जब श्यामलाल उसे भगा लाया था तब वह कितनी सुन्दर और स्वस्थ थी ! तब जो भी गाहक आता था वह सबसे पहले उसीसे बातें करता था। वह अकड़ती थी और गाहक उसे अधिक रुपयों का प्रलोभन देते हुए मनाते थे। केवल तीन ही वर्षों के भीतर इतना बड़ा बदलाव उसके रूप और रंग में हो गया। अपना सारा सत्त्व बेचकर आज वह हड्डियों का एक ढांचा बनकर रह गई है, जिसके ऊपर झिल्ली चढ़ा दी गई हो। आज उसे देखकर गाहक स्पष्ट ही मारे भय के भागने लगते हैं। ठीक है, श्यामलाल ने झूठ नहीं कहा था। वह आज सचमुच भुतनी बनकर रह गई है। पर इसमें दोष किसका है। और फिर श्यामलाल का वह राक्षसी रूप उसकी आंखों के आगे नाचने लगता है, जो उसने उसके बहुत कष्ट से बचाए हुए दो रुपये खसोटते समय उसके आगे प्रकट किया था। वह सोचने लगती है कि श्यामलाल सचमुच का राक्षस हो गया है—यम का दूत, मरघट का कफन-खसोट चाण्डाल ! और राक्षस को एक दिन उसने चाहा था। उसकी बात का विश्वास आंख मूंदकर वह बिना किसी शंका के अपने मां-बाप को छोड़कर उसके साथ भाग निकली थी। तब कौन जानता था कि उस शैतान का पेशा कुछ और ही है और वह उसे हर अजनबी के हाथ बेचने के लिए मजबूर करना चाहता है। तब वह कैसी प्यारी-प्यारी चिकनी-चुपड़ी बातें किया करता था ! उसने कहा था कि दोनों एक नया संसार बसाएंगे और वह चूल्हा-चौका करके गरीब मां-बाप के साथ रहकर कष्टमय जीवन

शब्द करके जम्हाई लेती है और कभी-कभी उसके साथ अंगड़ाई भी। जमुना उसकी ओर देखकर आन्तरिक पीड़ा के साथ ही ग्लानि की भावना से भीतर ही भीतर सिकुड़-सी जाती है।

वह सोचती है कि इस स्त्री की और स्वयं उसकी अपनी तरह की कुरूप स्त्रियां क्यों पेशे को अपनाती हैं? क्यों घंटों बारजों पर बैठकर इस तरह का अपमान सहती हैं? उस बुड्ढे खूसट तक को जब वह राजी न कर सकी तब वह स्वयं किस उम्मीद से इतनी देर तक बैठी हुई है? इससे बड़ी जलालत और क्या हो सकती है! अच्छा तो यह होगा कि वह यदि और कोई दूसरा उपाय अपने लिए दो जून का खाना जुटाने का नहीं कर पाती है तो वह कल या तो विष खाकर मर जाए या गोमती में डूब मरे। कब तक जीवन के टूटे छकड़े को इस तरह घसीटा जा सकता है! पर उसकी प्यारी बच्ची जो मर रही है! उसके लिए डाक्टर की फीस का प्रबन्ध तो हर हालत में करना ही होगा। पर कैसे? जैसा ढंग चल रहा है उससे तो यही लगता है कि सुबह होने तक एक भी गाहक उसे मिलना मुश्किल है। इसका अर्थ स्पष्ट ही यह है कि उसकी कुरूपता इधर बहुत बढ़ गई है—जितना वह शीशे में मुंह देखकर समझती है उससे भी कई गुना अधिक। ढाई वर्ष पहले जब श्यामलाल उसे भगा लाया था तब वह कितनी सुन्दर और स्वस्थ थी! तब जो भी गाहक आता था वह सबसे पहले उसीसे बातें करता था। वह अकड़ती थी और गाहक उसे अधिक रुपयों का प्रलोभन देते हुए मनाते थे। केवल तीन ही वर्षों के भीतर इतना बड़ा बदलाव उसके रूप और रंग में हो गया। अपना सारा सत्त्व बेचकर आज वह हड्डियों का एक ढांचा बनकर रह गई है, जिसके ऊपर झिल्ली चढ़ा दी गई हो। आज उसे देखकर गाहक स्पष्ट ही मारे भय के भागने लगते हैं। ठीक है, श्यामलाल ने झूठ नहीं कहा था। वह आज सचमुच भुतनी बनकर रह गई है। पर इसमें दोष किसका है। और फिर श्यामलाल का वह राक्षसी रूप उसकी आंखों के आगे नाचने लगता है, जो उसने उसके बहुत कष्ट से बचाए हुए दो रुपये खसोटते समय उसके आगे प्रकट किया था। वह सोचने लगती है कि श्यामलाल सचमुच का राक्षस हो गया है—यम का दूत, मरघट का कफन-खसोट चाण्डाल! और राक्षस को एक दिन उसने चाहा था। उसकी बात का विश्वास आंख मूंदकर वह बिना किसी शंका के अपने मां-बाप को छोड़कर उसके साथ भाग निकली थी। तब कौन जानता था कि उस शैतान का पेशा कुछ और ही है और वह उसे हर अजनबी के हाथ बेचने के लिए मजबूर करना चाहता है। तब वह कैसी प्यारी-प्यारी चिकनी-चुपड़ी बातें किया करता था! उसने कहा था कि दोनों एक नया संसार बसाएंगे और वह चूल्हा-चौका करके गरीब मां-बाप के साथ रहकर कष्टमय जीवन

बिताने से छुट्टी पा जायगी। उसे जो जिन्दगी एक बहुत बड़े असहनीय बोझ की तरह भार मालूम हो रही है वह एक रंगीन सपने में बदल जायगी। पर आज उसकी जिन्दगी अंधेरे पाख में आधी रात के डरावने सपने की तरह बीत रही है। कितना बड़ा धोखा दिया उस लड़के ने, जब वह भागकर उसके साथ चली आई तब उसे मालूम हुआ कि उसकी कपड़े की दुकान कभी नहीं रही। वह कभी फेरी करके कपड़े बेचा करता था और बाद में बुरी सोहबत में पड़ जाने से अपना सब कुछ बेच-बाच दिया और शराब पीने में और वेश्याओं के संसर्ग में सब रुपये उड़ा दिए। इसके बाद वेश्याओं की दलाली करने लगा। जब जमुना से वह पहले-पहल मिला था तब वह दलाल ही था और यह बात उसने छिपाई थी। नौजवान जमुना को अच्छी दुधारू गाय समझकर उसे पेशेवर जीवन बिताने को मजबूर करने का इरादा उसका पहले ही से था, यह बात बाद में स्पष्ट हो गई। जमुना को उन दिनों की बात याद आती है जब लखनऊ पहुंचते ही उसने उसे एक बुड्ढे सेठ को फंसाने का साधन बनाना चाहा था—यह कहकर कि वह एक अच्छे गृहस्थ की लड़की है। जमुना बुड्ढे के यहां से भागकर चली आई थी। इसके बाद चौक की एक तंग और गन्दी गली में एक कोठरी के भीतर श्यामलाल ने उसे बन्द कर दिया था और उसके बार-बार विरोध और प्रतिरोध करने पर वह धमकी देता थी कि यदि वह उसकी बात नहीं मानेगी तो वह उसे भूखों मरने के लिए उसी काल-कोठरी में बन्द रखकर छोड़ देगा। वह फिर भी नहीं मानी और उसने उसे सचमुच भूखों मारना शुरू कर दिया। चौबीस घण्टों में एक-आध रूखी-सूखी रोटी वह उसके सिर पर पटक देता था। उसे और कुछ भी खाने को नहीं देता था। इसके अलावा उसे बीच-बीच में पीटता रहता था। अन्त में अपनी और कोई दूसरी गति न देखकर तंग आकर वह राजी हो गई। वह अभी मरना नहीं चाहती थी। अभी वह एक प्रकार से मासूम लड़की ही थी। अभी उसने जिन्दगी में देखा ही क्या था? वह अपने बन्द कमरे की खिड़की से बीच-बीच में सामने बारजे पर बैठनेवाली कोठेवालियों को देखा करती थी। वे सब शाम होते ही सजधजकर नये और रंगबिरंगे कपड़े पहनकर बारजे में बैठ जाती थीं। बाहर से देखने में वे बहुत खुश मालूम होती थीं। लगता था कि वे मुक्त जीवन बिताती हैं और उनके ऊपर किसीका बन्धन नहीं है। जब वह भूखों मरने लगी और मार खाने लगी तब उसने सोचा कि उन्हींकी तरह जीविका कमाने में हानि ही क्या है। इस तरह तड़प-तड़पकर मरने से तो वह अच्छा ही होगा। और कौन जाने, उस रंगीन जीवन में उसे एक अनजान सुख भी मिल सकता है। श्यामलाल उसे वहां से हटाकर एक मकान में ले गया जहां वह आजकल रहती है। प्रारम्भ में नये-नये अजनबी गाहकों से

मिलने और उनसे बातें करने में उसे बड़ा संकोच होता था। वह जैसे जमीन में गड़ी जाती थी। धीरे-धीरे उसे आदत पड़ गई और उसमें ढिठाई आने लगी। पर उसने देखा कि कोठेवालियों के जिस सुख और स्वच्छन्द जीवन की कल्पना उसने कर रखी थी वह वास्तविकता से कोसों दूर है। अपने को वेचकर भी नंगहाल रहती हैं और इच्छानुसार भोजन तक का प्रबन्ध नहीं कर पातीं, गाहकों से जो कुछ मिलता है वह प्रायः सव दलालों की दलाली, कमरे का किराया, नौकर का वेतन और अनिवार्य रूप से आवश्यक शृंगार-सामग्री खरीदने आदि में खर्च हो जाता है और अपने भोजन का प्रबन्ध करने के लिए उन्हें कर्ज लेने तक को वाध्य होना पड़ता है। यह उन लोगों का हाल है जिन-के ऊपर किसी नायिका का बन्धन नहीं है। जो वेचारियां नायिकाओं के अधीन रहकर पेशेवर जीवन बिताने को वाध्य हैं उनकी दुर्गति तो अकथनीय रूप से भयकर है। उन्हें गाहकों के हाथ अपनी शरम-धरम, अस्मत-आबरू सब कुछ बेचकर जो पैसे मिलते हैं उन्हें पाई-पाई करके नायिकाएं खसोट लेती हैं और बदले में उन्हें जीने-भर तक की पर्याप्त सुविधा नहीं देतीं।

पर जल्दी ही उसे यह अनुभव हुआ कि जो अभागिनियां श्यामलाल की तरह के कफन-खसोट गुण्डों के फंदों में फंसी होती हैं उनकी दशा सबसे अधिक दयनीय है। प्रारम्भ में वह श्यामलाल के हाथ में चुपचाप सब रुपये थमा देती थी। वह उनसे इस कदर तंग आ गई थी कि उससे झगड़ना और बहस करना नहीं चाहती थी। इतना वह ज़रूर सोचती थी कि चाहे वह कितना ही बड़ा लफंगा और कमीना क्यों न हो, उसकी प्रतिदिन की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति अवश्य ही करेगा, उसके प्रति दया करके नहीं वल्कि अपनी गरज़ से। पर उसने देखा कि वह नराधम उसके सुबह और शाम के भोजन तक के बारे में लापरवाह है, तव उसने गाहकों से मिलनेवाले पैसों में से कुछ चुराकर रखना आरम्भ किया। श्यामलाल के ज़रिये से गाहक से जितना रुपया तय होता था उसके अलावा कुछ और पैसा देने के लिए वह गायक के आगे, श्यामलाल के पीछे गिड़गिड़ाती थी। कभी-कभी तो वह गाहक के आगे रो भी पड़ती थी। दयावश हो या अपनी जान छुड़ाने के लिए ही, अधिकांश गाहक तय की गई रकम से कुछ अतिरिक्त उसे दे देते थे। वह उन अतिरिक्त पैसों को अंटी में छिपा लेती थी। प्रारम्भ में कुछ दिनों तक श्यामलाल को उन अतिरिक्त पैसों का पता न चला। पर एक दिन जमुना की अंटी से एक अठन्नी नीचे गिर पड़ी तब से प्रतिदिन वह नंगाझोरी लेने लगा और अतिरिक्त पैसों को भी वलपूर्वक झटकने में कोई बात उठा न रखता। जमुना रोती, गिड़गिड़ाती, आत्मघात कर लेने की धमकी देती, पूरी ताकत से प्रतिरोध करती, पर वह पिशाच तनिक भी न पिघलता और अपनी हरकतों से बाज़ न आता। फल यह हुआ

कि उसका स्वास्थ्य दिन-ब-दिन गिरता चला गया। भरी जवानी में उसके तन का और मन का सारा तत्व निचुड़ गया। सारा रस सूख गया। प्रेतों की तरह उसकी आकृति हो गई। साल-भर पहले जब उसने उस बच्ची को जन्म दिया था, जो आज बीमारी से बेहोश पड़ी थी, तब से उसकी वह प्रेताकृति और भयंकर हो गई और वह केवल हड्डियों का चलता-फिरता ढांचा रह गई। श्यामलाल से प्रतिदिन उसकी चख-चख चलती रहती थी। वह पाई-पाई उससे छीनकर कुछ तो शराब पीने में खर्च करता था और शेष एक प्रेमिका को दे देता था। आज जो घटना हुई वह कोई नई नहीं थी; वस्तुतः उसकी आदी हो चुकी थी। पर आज उसके शरीर से भी अधिक उसके मन पर श्यामलाल के व्यवहार से जो खरोंच लगी, उसका कारण था : उसने श्यामलाल को एक दिन सच्चे मन से चाहा था। बाद में उसके नीच व्यवहार से उसका मन उसकी ओर से खट्टा हो जाने पर भी अपने अनजान में उसे यह विश्वास था कि जब वह दुर्गति की चरम सीमा तक पहुंच जाएगी तब उसके लिए श्यामलाल ही संसार में अकेला ऐसा प्राणी सिद्ध होगा जो उसका साथ देगा। वह दुर्गति की जिस सीमा तक पहुंच चुकी थी वह चरम के ही निकट थी, और वह जानती थी कि यदि वह उस चकले में सड़-गलकर भूखों मरने लगे तो कोई उसकी ओर आंख उठाकर देखने वाला भी वहां नहीं है। क्योंकि जो कोठेवालियां अपने को बेचकर किसी तरह अपने जीवन का कष्टमय भार ढोए चली जा रही हैं उन्हें स्वयं अपनी ही कल की चिन्ताओं में अवकाश नहीं है, दूसरों की दुर्गति पर रोने की फुर्सत उन्हें कहां! इसलिए वह सोचती थी कि श्यामलाल चाहे कैसा भी पशु, कितना ही विकट नराधम क्यों न हो, आखिर एकमात्र वही तो वहां उसका अपना कहने को है। पर आज अब उसने देखा कि उसकी बच्ची की मरणासन्न दशा और स्वयं उसकी रुग्ण और निराहार अवस्था देखकर भी श्यामलाल, बच्ची के इलाज के लिए डाक्टर बुलवाना और उसे दिलासा देना तो दरकिनार उलटे उसे मार-पीटकर, उसका कफ़न तक खसोटने से बाज़ नहीं आया, तब वह सारे विश्व में अपने को एकदम अनाथ, असहाय और निपट अकेली जानकर आतंक से सिहर उठी थी। उसका कोई भी अपना नहीं रह गया था—यह तथ्य ज्वलंत सत्य की तरह उसकी आंखों के आगे नाचने लगा था।

उसे बैठे-बैठे बहुत देर हो गई है। नीचे गली में लोगों का आना-जाना कम होता जा रहा है। इच्छा-शक्ति का पूरा ज़ोर लगाने पर भी वह बीच-बीच में बरबस ऊंघने लगती है और फिर-फिर चौंक उठती है। कुछ ही सेकंडों की ऊंघाई में वह अजीब-से अस्पष्ट दुःस्वप्न देखने लगती है, जिनका केवल आतंकजनक आभासमात्र जगने पर उसके मन में शेष रह जाता है। एक बार

मिलने और उनसे बातें करने में उसे बड़ा संकोच होता था। वह जैसे ज़मीन में गड़ी जाती थी। धीरे-धीरे उसे आदत पड़ गई और उसमें ढिठाई आने लगी। पर उसने देखा कि कोठेवालियों के जिस सुख और स्वच्छन्द जीवन की कल्पना उसने कर रखी थी वह वास्तविकता से कोसों दूर है। अपने को बेचकर भी नंगहाल रहती हैं और इच्छानुसार भोजन तक का प्रबन्ध नहीं कर पातीं, गाहकों से जो कुछ मिलता है वह प्रायः सब दलालों की दलाली, कमरे का किराया, नौकर का वेतन और अनिवार्य रूप से आवश्यक शृंगार-सामग्री खरीदने आदि में खर्च हो जाता है और अपने भोजन का प्रबन्ध करने के लिए उन्हें कर्ज़ लेने तक को बाध्य होना पड़ता है। यह उन लोगों का हाल है जिनके ऊपर किसी नायिका का बन्धन नहीं है। जो बेचारियां नायिकाओं के अधीन रहकर पेशेवर जीवन बिताने को बाध्य हैं उनकी दुर्गति तो अकथनीय रूप से भयंकर है। उन्हें गाहकों के हाथ अपनी शरम-धरम, अस्मत-आबरू सब कुछ बेचकर जो पैसे मिलते हैं उन्हें पाई-पाई करके नायिकाएं खसोट लेती हैं और बदले में उन्हें जीने-भर तक की पर्याप्त सुविधा नहीं देतीं।

पर जल्दी ही उसे यह अनुभव हुआ कि जो अभागिनियां श्यामलाल की तरह के कफन-खसोट गुण्डों के फंदों में फंसी होती हैं उनकी दशा सबसे अधिक दयनीय है। प्रारम्भ में वह श्यामलाल के हाथ में चुपचाप सब रुपये थमा देती थी। वह उनसे इस कदर तंग आ गई थी कि उससे झगड़ना और बहस करना नहीं चाहती थी। इतना वह ज़रूर सोचती थी कि चाहे वह कितना ही बड़ा लफंगा और कमीना क्यों न हो, उसकी प्रतिदिन की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति अवश्य ही करेगा, उसके प्रति दया करके नहीं बल्कि अपनी गरज़ से। पर उसने देखा कि वह नराधम उसके सुबह और शाम के भोजन तक के बारे में लापरवाह है, तब उसने गाहकों से मिलनेवाले पैसों में से कुछ चुराकर रखना आरम्भ किया। श्यामलाल के ज़रिये से गाहक से जितना रुपया तय होता था उसके अलावा कुछ और पैसा देने के लिए वह गायक के आगे, श्यामलाल के पीछे गिड़गिड़ाती थी। कभी-कभी तो वह गाहक के आगे रो भी पड़ती थी। दयावश हो या अपनी जान छुड़ाने के लिए ही, अधिकांश गाहक तय की गई रकम से कुछ अतिरिक्त उसे दे देते थे। वह उन अतिरिक्त पैसों को अंटी में छिपा लेती थी। प्रारम्भ में कुछ दिनों तक श्यामलाल को उन अतिरिक्त पैसों का पता न चला। पर एक दिन जमुना की अंटी से एक अठन्नी नीचे गिर पड़ी तब से प्रतिदिन वह नंगाझोरी लेने लगा और अतिरिक्त पैसों को भी बलपूर्वक झटकने में कोई बात उठा न रखता। जमुना रोती, गिड़गिड़ाती, आत्मघात कर लेने की धमकी देती, पूरी ताकत से प्रतिरोध करती, पर वह पिशाच तनिक भी न पिघलता और अपनी हरकतों से बाज़ न आता। फल यह हुआ

कि उसका स्वास्थ्य दिन-ब-दिन गिरता चला गया। भरी जवानी में उसके तन का और मन का सारा तत्त्व निचुड़ गया। सारा रस सूख गया। प्रेतों की तरह उसकी आकृति हो गई। साल-भर पहले जब उसने उस बच्ची को जन्म दिया था, जो आज बीमारी से बेहोश पड़ी थी, तब से उसकी वह प्रेताकृति और भयंकर हो गई और वह केवल हड्डियों का चलता-फिरता ढांचा रह गई। श्यामलाल से प्रतिदिन उसकी चख-चख चलती रहती थी। वह पाई-पाई उससे छीनकर कुछ तो शराब पीने में खर्च करता था और शेष एक प्रेमिका को दे देता था। आज जो घटना हुई वह कोई नई नहीं थी। वस्तुतः उसकी आदी हो चुकी थी। पर आज उसके शरीर से भी अधिक उसके मन पर श्यामलाल के व्यवहार से जो खरोंच लगी, उसका कारण था : उसने श्यामलाल को एक दिन सच्चे मन से चाहा था। बाद में उसके नीच व्यवहार से उसका मन उसकी ओर से खट्टा हो जाने पर भी अपने अनजान में उसे यह विश्वास था कि जब वह दुर्गति की चरम सीमा तक पहुंच जाएगी तब उसके लिए श्यामलाल ही संसार में अकेला ऐसा प्राणी सिद्ध होगा जो उसका साथ देगा। वह दुर्गति की जिस सीमा तक पहुंच चुकी थी वह चरम के ही निकट थी, और वह जानती थी कि यदि वह उस चकले में सड़-गलकर भूखों मरने लगे तो कोई उसकी ओर आंख उठाकर देखने वाला भी वहां नहीं है। क्योंकि जो कोठेवालियां अपने को बेचकर किसी तरह अपने जीवन का कष्टमय भार ढोए चली जा रही हैं उन्हें स्वयं अपनी ही कल की चिन्ताओं में अवकाश नहीं है, दूसरों की दुर्गति पर रोने की फुर्सत उन्हें कहां! इसलिए वह सोचती थी कि श्यामलाल चाहे कैसा भी पशु, कितना ही विकट नराधम क्यों न हो, आखिर एकमात्र वही तो वहां उसका अपना कहने को है। पर आज अब उसने देखा कि उसकी बच्ची की मरणासन्न दशा और स्वयं उसकी रुग्ण और निराहार अवस्था देखकर भी श्यामलाल, बच्ची के इलाज के लिए डाक्टर बुलवाना और उसे दिलासा देना तो दरकिनार उलटे उसे मार-पीटकर, उसका कफ़न तक खसोटने से बाज़ नहीं आया, तब वह सारे विश्व में अपने को एकदम अनाथ, असहाय और निपट अकेली जानकर आतंक से सिहर उठी थी। उसका कोई भी अपना नहीं रह गया था—यह तथ्य ज्वलंत सत्य की तरह उसकी आंखों के आगे नाचने लगा था।

उसे बैठे-बैठे बहुत देर हो गई है। नीचे गली में लोगों का आना-जाना कम होता जा रहा है। इच्छा-शक्ति का पूरा ज़ोर लगाने पर भी वह बीच-बीच में बरबस ऊंघने लगती है और फिर-फिर चौंक उठती है। कुछ ही सेकंडों की ऊंघाई में वह अजीब-से अस्पष्ट दुःस्वप्न देखने लगती है, जिनका केवल आतंकजनक आभासमात्र जगने पर उसके मन में शेष रह जाता है। एक बार

वह देखती है कि वह और बच्ची अकूल समुद्र में बहते हुए मगरों के जबड़ों से किसी तरह बचते हुए सहसा नीचे अतल की ओर डूबते चले जाते हैं। वह हाथ-पांव ऊपर को करने के प्रयत्न में छटपटाती है, पर उसके उद्धार के लिए कोई आता है तो केवल एक भीषण दाढ़ोंवाला दूसरा मगर। वह चिल्लाकर हाथ खींचने लगती है और उसके छटपटाने से बच्ची उसके हाथ से छूटने लगती है। वह फिर उसे पकड़ने के लिए और अधिक गहराई में गोता लगाती है। इतने में उसके कानों में आवाज़ आती है, "अच्छा स्वांग रचा है।" वह चौंककर आंखें मलती हुई ठीक से बैठ जाती है। देखती है कि सामने कोयले से भी काला एक दैत्याकार आदमी एक लम्बी-सी लाठी हाथ में लिए खड़ा है और अपनी मूंछों के नीचे विचित्र ढंग से मुस्करा रहा है। वह एक सफेद बंडी और सफेद ही लुंगी पहने है। क्षण-भर के लिए जमुना को लगता है कि वह अभी तक स्वप्न ही देख रही है, पर जब वह दैत्य मुस्कान-भरी विचित्र मुद्रा बनाकर कहता है, "कहिए बाईजी, अन्दर चलिएगा?" तब उसे विश्वास होता है कि वह जगी है। वह बिना कुछ सोचे चुपचाप उठ खड़ी होती है और फिर धीरे से उस आदमी से, जिसका ढांचा पहलवानों का-सा लगता है, कान के पास कहती है, "चलिए।"

गिरती-पड़ती हुई-सी वह पहलवान को लेकर छत पर चलती है। धुआंती हुई लालटेन की कालिख से काली चिमनी के भीतर से शैतान की आंख की तरह लाल बत्ती अभी तक किसी तरह जल रही है। स्पष्ट ही तेल चुक गया है और केवल बत्ती का कपड़ा जल रहा है। उस धुंधलके में वह एक बार खटिया पर पड़ी बच्ची की ओर देखती है। बच्ची उसी तरह बेहोश-सी पड़ी है। वह एक बार बच्ची के एकदम निकट झुलकती है। बच्ची आंखें बन्द किए है। उसकी सांस बहुत तेज़ चल रही है। बीच-बीच में एक अस्फुट कराह उसके मुंह से निकलती है। जमुना एक बार हल्के हाथों से उसकी पीठ थप-थपाती है और बरबस उमड़ते हुए आंसुओं को पी जाने का भरसक प्रयत्न करती है। फिर भी आंखें गीली हो जाती हैं। वह चुपके से आंचल से आंखें पोंछ लेती है। पहलवान कमरे के भीतर दरवाज़े के पास ही खड़ा है। वह उसके आगे अपने आंसुओं को प्रकट नहीं होने देना चाहती।

"आइए, बैठिए।" अपने प्रेत मुख पर बरबस मुस्कान का आभास झलकाने का प्रयत्न करती हुई वह कहती है। पहलवान लाठी को दीवार के एक कोने के सहारे खड़ा करके दूसरी खटिया पर बैठ जाता है। जमुना भीतर से किवाड़ बंद कर देती है।

पहलवान को बाहर निकले दो मिनट भी नहीं होते कि श्यामलाल भीतर पहुंच जाता है और जमुना फर्श पर बिछी हुई एक मैली दरी के ऊपर हाथ-

पांव फैलाकर प्रायः अधमरी-सी अवस्था में लेटी है। बुझती हुई बत्ती के बहुत ही जीर्ण प्रकाश में श्यामलाल कुछ क्षणों तक उसके इस भयावने रूप की ओर देखता रह जाता है। अचानक ही एक टीस-सी सिहरन क्षण-भर के लिए उसकी रीढ़ में होकर दौड़ जाती है, पर फिर दूसरे ही क्षण अपनी उस भावना को झाड़ फेंकता है और फर्श पर जमुना के निकट उकड़ूं बैठकर वह कहता है, "ला, पहलवान ने क्या दिया तुझे? मैंने ही उसे तेरे पास भेजा था। मुझे इस समय रुपयों की सख्त जरूरत है। चुपचाप से मेरे हाथ में दे दे। मैं तुझसे आज फिर कुछ नहीं मांगूंगा। इसके बाद वाला पाहुन तुझे जो कुछ देगा उसे तू ही रख लेना। उसमें से मैं एक पैसा भी नहीं लूंगा, जल्दी दे।" वह अपेक्षा-कृत नम्र स्वर में कहता है और हाथ से उसे हिलाने लगता है।

जमुना चौंककर उठ बैठती है। स्पष्ट ही वह इतनी देर तक या तो बेहोशी की-सी हालत में पड़ी थी या सोई हुई थी। कमरे के क्षीण प्रकाश में श्याम-लाल को देखते ही वह बौखला उठती है। उसकी सारी मानसिक और शारीरिक थकावट पल-भर के लिए लुप्त हो जाती है। सिरहाने के नीचे रखे हुए रुपयों को अण्टी में छिपाकर वह पूरी ताकत से चिल्लाकर कहती है, "तुम फिर आ गए? यहां से इसी क्षण चले जाओ, नहीं तो मैं तुम्हारा बड़ा बुरा हाल कर दूंगी।" और उठकर अलग खड़ी हो जाती है।

श्यामलाल का स्वर फिर कठोर हो जाता है। वह दांतों को किटकिटाता हुआ लपककर उसके पास जाता है और उसकी अण्टी टटोलने का प्रयत्न करता है। उसके मुंह से कच्ची शराब की तीव्र गंध आ रही है।

"मैं ये रुपये हरगिज़ नहीं दूंगी। हरगिज़ नहीं दूंगी।" वह चीखती हुई रोने के-से स्वर में कहती है, "इन्हें मैंने बच्ची की दवा-दारू और डाक्टर की फीस के लिए रख छोड़ा है।"

वह उसके दोनों हाथों को अपने बायें हाथ की मुट्ठी से कसकर पकड़ लेता है और दाहिने हाथ से उसकी अण्टी से रुपये निकालने का प्रयत्न करता है। वह छटपटाती है, अपने दांतों को उसके बायें हाथ पर गड़ाकर पूरी ताकत से काटती है। पीड़ा के कारण एक धीमी-सी कराह श्यामलाल के मुंह से निक-लती है, पर फिर भी वह मुट्ठी नहीं छोड़ता। वह काट-काटकर उसके हाथ से खून निकाल देती है पर कोई फल नहीं होता। अन्त में वह उसके हाथों को छोड़ देती है। वह नाखूनों से उसका मुंह नोचने लगती है, पर तब तक श्याम-लाल उसकी अण्टी से रुपये निकाल लेता है। वह दौड़कर उसपर झपटती है पर वह कमरे से बाहर निकलकर बाहर से सांकल चढ़ाकर अट्टहास करता है, "पहलवान बड़े-बड़े बाबुओं से भी दरियादिल निकला। दस रुपये दिए उसने, पूरे दस। कच्ची पीकर तबीयत खराब हो गई थी अब जाकर 'थ्री एक्स'

पीऊंगा। मिश्कन के यहां अब भी मिल जाएगी, एक रुपया ज़्यादा देकर। हा: हा:। रात-भर बन्द रहो। आराम करो, बहुत थक गई होगी···"

जनुआ भीतर से दरवाज़े पर पूरी ताकत से हाथ से धक्के देती रहती है और चिल्लाती है, "शैतान, जल्दी खोल दरवाज़ा, जल्दी खोल। मेरे रुपये वापस कर दे। बच्ची पर रहम कर।" और वह गुहार मारकर रोने लगती है।

बहुत देर तक वह इसी तरह रोती हुई किवाड़ पर धक्के देती रहती है, पर न कोई उत्तर मिलता है, न दरवाजा खुलता है। वह अपना सिर किवाड़ पर पटकने लगती है, पर किवाड़ को रहम नहीं आता। अन्त में थककर वह फर्श पर पछाड़ खाकर गिर पड़ती है। काफी देर तक उसी अवस्था में पड़ी रहती है। उसके बाद सहसा उठकर लड़खड़ाते हुए पांवों से उस खटिया पर जाती है जहां बच्ची पड़ी है। किसी तरह उसकी बगल में जाकर लेट जाती है। पिछले कुछ घण्टों के सारे चक्कर से अपने को इस कदर थकी हुई महसूस करती है कि उसे लगता है, उसे मूर्च्छा आ जाएगी। उसे सब कुछ घूमता हुआ-सा मालूम होता है। लालटेन की बत्ती की लौ धीरे-धीरे बुझती जा रही है। उसे नींद मालूम होने लगती है। आंखें झंपने लगती हैं और वह सो जाती है।

काफी देर बाद जब एक दुःस्वप्न देखने के कारण उसकी नींद उचटती है तब वह बच्ची की ओर करवट बदलती है। अभ्यासवश अनमने भाव से बच्ची की पीठ थपथपाती जाती है, जैसे उसे सुला रही हो। उसके थके हुए निःशक्त शरीर और अशक्त मन पर नींद का खुमार अभी तक ऐसा छाया है कि बच्ची देर से मरी हुई पड़ी है, इसकी कुछ सुध ही उसे नहीं है। वह अभ्यासवश उसकी पीठ थपथपाती हुई लोरी के स्वर में कहती जाती है, "आ-आ। आ-आ। आ-आ। आ···।"

आहुति

लखनऊ के चारबाग स्टेशन पर जब पंजाब मेल पहुंची, तो प्लेटफार्म पर एक बहुत बड़ी भीड़ खड़ी थी। जब गाड़ी से उतरने वाले यात्री अपना सामान कुलियों के हवाले कर बाहर निकलने की उतावली दिखाने लगे तो टिकट चेकर बहुत परेशान हो गया। फिर भी उसने अपने कर्तव्य में ज़रा भी ढिलाई नहीं दिखाई और आगे बढ़नेवाले यात्रियों को पूरी ताकत लगाकर अपनी वज्रमुष्टि से रोककर वह एक-एक करके सबके टिकट चेक करने लगा। एक लम्बे कद के चश्माधारी सज्जन इस इन्तजार में खड़े थे कि ज्योंही कुछ भी मौका मिले तो वह टिकट दिखाकर बाहर निकल जाएं। वह एक रेशमी कुर्ता और मलमलनुमा बारीक कपड़े की धोती पहने थे, और ऊपर रेशम का चादरा डाले हुए थे। टिकट-चेकर एक देहाती बूढ़े को, जो पहनावे से एक गरीब किसान मालूम होता था, इस बात के लिए तंग कर रहा था कि उसने अपने साथ के एक छोटे-से बच्चे का टिकट क्यों नहीं लिया? चश्माधारी सज्जन फाटक के बाहर निकलने के लिए अधीर होने पर भी उस तकरार में काफी दिलचस्पी ले रहे थे, और मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे थे। इतने में एक व्यक्ति उसी भीड़ के भीतर से चुपके-से कुछ आगे बढ़ा और उन्हीं चश्माधारी बाबू साहब के पीछे खड़ा हो गया। उसने क्षण-भर के लिए एक बार चारों ओर नजर दौड़ाई और उसके बाद बिजली की-सी शीघ्रता से, पलक मारते-मारते बड़ी सफाई से एकदम बेमालूम ढंग से बाबू साहब के रेशमी कुर्ते की बाईं जेब से काले रंग के चमड़े का एक बटुवा निकाल लिया और निकालते ही वह उसी फुर्ती और सफाई से भीड़ के भीतर गायब हो गया।

गायब होने के कुछ ही देर बाद, वही व्यक्ति भीड़ से बाहर निकला। उसकी उम्र प्रायः चौबीस-पच्चीस वर्ष की होगी। वह काले रंग का बहुत मैली बनियाइन, सफेद मार्कीन का उतना ही मैला कुरता और लांगक्लाथ का उन दोनों से भी अधिक मैला पायजामा पहने था, पांवों में उसके फटे-पुराने चप्पल थे और नंगे सिर के रूखे बालों पर दुनिया-भर की गर्द जमी थी, उसके सत्त्वहीन मुरझाए और चीमड़चमड़े का रंग गेहुंआ था। उसकी आंखों में कभी एक भ्रान्त भाव व्यक्त होता था, कभी एक उन्मादग्रस्त व्यक्ति की-सी उत्तेजना, घोर घृणा और तीव्र व्यंग्य का सम्मिलित आभास। जब उसके मुंह

पीऊंगा। शिब्बन के यहां अब भी मिल जाएगी, एक रुपया ज़्यादा देकर। हाः हाः। रात-भर बन्द रहो। आराम करो, बहुत थक गई होगी···"

जमुना भीतर से दरवाज़े पर पूरी ताकत से हाथ से धक्के देती रहती है और चिल्लाती है, "शैतान, जल्दी खोल दरवाज़ा, जल्दी खोल। मेरे रुपये वापस कर दे। बच्ची पर रहम कर।" और वह गुहार मारकर रोने लगती है।

बहुत देर तक वह इसी तरह रोती हुई किवाड़ पर धक्के देती रहती है, पर न कोई उत्तर मिलता है, न दरवाज़ा खुलता है। वह अपना सिर किवाड़ पर पटकने लगती है, पर किवाड़ को रहम नहीं आता। अन्त में थककर वह फर्श पर पछाड़ खाकर गिर पड़ती है। काफी देर तक उसी अवस्था में पड़ी रहती है। उसके बाद सहसा उठकर लड़खड़ाते हुए पांवों से उस खटिया पर जाती है जहां बच्ची पड़ी है। किसी तरह उसकी बगल में जाकर लेट जाती है। पिछले कुछ घण्टों के सारे चक्कर से अपने को इस कदर थकी हुई महसूस करती है कि उसे लगता है, उसे मूर्च्छा आ जाएगी। उसे सब कुछ घूमता हुआ-सा मालूम होता है। लालटेन की बत्ती की लौ धीरे-धीरे बुझती जा रही है। उसे नींद मालूम होने लगती है। आंखें झंपने लगती हैं और वह सो जाती है।

काफी देर बाद जब एक दुःस्वप्न देखने के कारण उसकी नींद उचटती है तब वह बच्ची की ओर करवट बदलती है। अभ्यासवश अनमने भाव से बच्ची की पीठ थपथपाती जाती है, जैसे उसे सुला रही हो। उसके थके हुए निःशक्त शरीर और अशक्त मन पर नींद का खुमार अभी तक ऐसा छाया है कि बच्ची देर से मरी हुई पड़ी है, इसकी कुछ सुध ही उसे नहीं है। वह अभ्यासवश उसकी पीठ थपथपाती हुई लोरी के स्वर में कहती जाती है, "आ-आ। आ-आ। आ-आ। आ···।"

आहुति

लखनऊ के चारबाग स्टेशन पर जब पंजाब मेल पहुंची, तो प्लेटफार्म पर एक बहुत बड़ी भीड़ खड़ी थी। जब गाड़ी से उतरने वाले यात्री अपना सामान कुलियों के हवाले कर बाहर निकलने की उतावली दिखाने लगे तो टिकट चेकर बहुत परेशान हो गया। फिर भी उसने अपने कर्तव्य में जरा भी ढिलाई नहीं दिखाई और आगे बढ़नेवाले यात्रियों को पूरी ताकत लगाकर अपनी वज्रमुष्टि से रोककर वह एक-एक करके सबके टिकट चेक करने लगा। एक लम्बे कद के चश्माधारी सज्जन इस इन्तजार में खड़े थे कि ज्योंही कुछ भी मौका मिले तो वह टिकट दिखाकर बाहर निकल जाएं। वह एक रेशमी कुर्ता और मलमलनुमा बारीक कपड़े की धोती पहने थे, और ऊपर रेशम का चादरा डाले हुए थे। टिकट-चेकर एक देहाती बूढ़े को, जो पहनावे से एक गरीब किसान मालूम होता था, इस बात के लिए तंग कर रहा था कि उसने अपने साथ के एक छोटे-से बच्चे का टिकट क्यों नहीं लिया? चश्माधारी सज्जन फाटक के बाहर निकलने के लिए अधीर होने पर भी उस तकरार में काफी दिलचस्पी ले रहे थे, और मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। इतने में एक व्यक्ति उसी भीड़ के भीतर से चुपके-से कुछ आगे बढ़ा और उन्हीं चश्माधारी बाबू साहब के पीछे खड़ा हो गया। उसने क्षण-भर के लिए एक बार चारों ओर नजर दौड़ाई और उसके बाद बिजली की-सी तीव्रता से, पलक मारते-मारते बड़ी सफाई से एकदम बेमालूम ढंग से बाबू साहब के रेशमी कुर्ते की बाईं जेब से काले रंग के चमड़े का एक बटुवा निकाल लिया और निकालते ही वह उसी फुर्ती और सफाई से भीड़ के भीतर गायब हो गया।

गायब होने के कुछ ही देर बाद, वही व्यक्ति भीड़ से बाहर निकला। उसकी उम्र प्राय: चौबीस-पच्चीस वर्ष की होगी। वह काले रंग का बहुत मैली बनियाइन, सफेद मार्कीन का उतना ही मैला कुरता और लांगक्लाथ का उन दोनों से भी अधिक मैला पायजामा पहने था, पांवों में उसके फटे-पुराने चप्पल थे और नंगे सिर के रूखे बालों पर दुनिया-भर की गर्द जमी थी. उसके सत्त्वहीन मुरझाए और चीमड़चमड़े का रंग गेहुंआ था। उसकी आंखों में कभी एक भ्रान्त भाव व्यक्त होता था, कभी एक उन्मादग्रस्त व्यक्ति की-सी उत्तेजना, घोर घृणा और तीव्र व्यंग्य का सम्मिलित आभास। जब उसके मुंह

कुछ देर के लिए बाहर एक 'शो-विण्डो' के पास खड़ा हो गया। वह बनारसी साड़ियों की दुकान थी। रेशम के बारीक और रंग-बिरंगे कपड़े के ऊपर तरह-तरह की 'डिज़ाइनों' से ज़री का काम किया गया था। वह प्रायः प्रतिदिन इस दुकान के पास एक बार खड़ा हो जाया करता था और उसकी बिलखती हुई आंखें 'शो-विण्डो' में सजाई गई उन चित्र-विचित्र और रात में बिजली के प्रकाश में चमकती हुई साड़ियों को एकटक देखती रहती थीं। उनमें से मट-मैले रंग की एक विशेष साड़ी उसे खास तौर से पसन्द थी। पता नहीं, तरह-तरह के चटकीले रंगों की साड़ियां रहते हुए, उसे मटमैले रंग के प्रति ही विशेष आकर्षण क्यों था; क्या उसके अपने मैले कपड़ों ने रंगों के चुनाव के सम्बन्ध में उसके मनोभाव को भी धुमैला कर दिया था? यह बात ध्यान देने योग्य है कि वह वर्षों से मैले कपड़े पहनने का आदी हो गया था। उसका कारण गरीबी उतनी नहीं थी, जितना उसके भीतर का एक अनोखा जड़ता-ग्रस्त भाव।

'शो-विण्डो' के पास कुछ देर खड़ा रहने के बाद वह दुकान के भीतर गया, और दुकान के एक आदमी को बाहर बुला लाया। उसे मटमैले रंग की वह साड़ी उसने दिखाई और उसका दाम पूछा। मालूम हुआ कि उसका मूल्य ६५ रुपये है। क्षण-भर के लिए गिरहकट शायद हिचकिचाया। उसके बाद उसने कहा—"अच्छी बात है, इसे निकालकर मुझे दे दो।"

दुकान के आदमी ने साड़ी निकालकर एक कागज़ में लपेटकर उसके हाथ में दे दी। गिरहकट ने बटुवे से दस-दस के छः नोट और पांच का एक नोट निकालकर दुकानदार को दे दिए और एक झलक देखकर और शेष पुलिन्दे की मोटाई से अन्दाज़ा लगाकर उसे मन ही मन बहुत सन्तोष हुआ कि अभी काफी बड़ी रकम बची है। अमीनाबाद से वह चौक को जाने-वाले एक इक्के पर सवार हुआ और बीच ही में उतर गया। उतरकर वह वहीं एक कच्चे मकान के दरवाज़े के निकट जाकर खड़ा हो उसे खटखटाने लगा। थोड़ी देर में दरवाज़ा खुला। एक बुढ़िया, जिसकी कमर झुकी हुई थी और सारा शरीर कांप रहा था, दैन्य और दरिद्रता की साक्षात् प्रतिमा-सी सामने आई। गिरहकट को अत्यन्त निकट से देखकर कांपती हुई आवाज़ में रुक-रुककर बोली—"कौन? श्यामनाथ! आओ बेटा, आओ। आज फिर दमे के दौर से मेरा बुरा हाल है, पर वह तो रोज़ की शिकायत है···एक रोटी के लिए आटा बचा हुआ था उसीको सान रही थी, पर दाल के नाम पर नमक भी नहीं है—बाबूलाल तीन दिन से नौकरी के लिए भटक रहा है, कहीं नहीं मिलती। महंगी, तिसपर बेकारी···मर नहीं पाती बेटा···।"

"अम्मां घबराओ नहीं, समय पर सब ठीक हो जाएगा। यह लो," कहकर

गिरहकट—श्यामनाथ—ने बटुवे से दस-दस के तीन नोट निकालकर बुढ़िया के हाथ में रख दिए। वह उसके पड़ोस की एक दुःखी औरत थी।

"बाबूलाल से फिर मिलूंगा। अभी इतने से खर्चा चलाना। अच्छा, इस समय जाता हूं, अम्मां।"

बुढ़िया आंखों में आंसू भर लाई, वह आशीर्वाद के रूप में कुछ कह रही थी, पर श्यामनाथ बिना कुछ सुने ही तेज़ी से चला गया।

वहां से दाहिने हाथ की ओर मुड़कर, प्रायः आधे मील तक वह पैदल चला। उसके बाद एक गली के भीतर दूसरे मकान में आकर खड़ा हो गया। मकान पक्का और दुमंज़िला था। पीले रंग की नई पुताई के कारण बाहर से काफी साफ-सुथरा दिखाई देता था। श्यामनाथ ने बाहर से दरवाज़ा खट-खटाया। भीतर से एक अधेड़ महिला-कण्ठ से आवाज़ आई—"अच्छा।"

थोड़ी देर बाद दरवाज़ा खुला। अधेड़ उम्र की एक देशी ईसाई महिला गाउन पहने खड़ी थी। वह काफी मोटी थी और रंग उसका एंजिन में झोंके जानेवाले कोयले की तरह था। श्यामनाथ के हाथ में कागज़ में लपेटी हुई कोई चीज़ देखकर उसके मुख पर कुछ उत्सुकता और कुछ प्रसन्नता का भाव झलक उठा। बोली—"यह क्या लाए हो?"

श्यामनाथ ने कहा—"पहले भीतर चलो, मदर। मैं बहुत थका हुआ हूं।" यह कहकर वह भीतर की ओर बढ़ा, और फिर ज़ीने से होकर ऊपर चढ़ गया। 'मदर' भी हांफती हुई उसके पीछे-पीछे सीढ़ियां चढ़ने लगी।

ऊपर जाकर श्यामनाथ एक छोटे-से कमरे के भीतर पड़ी हुई खटिया के ऊपर लेट गया। कागज़ का बंडल उसने सिरहाने के पास रख दिया। कुछ देर बाद जब अधेड़ ईसाई महिला हांफती हुई ऊपर आई तब आते ही वह बंडल को पकड़ने के लिए झपटी, पर श्यामनाथ ने उसे तत्काल उठाकर दूसरी ओर रख दिया। महिला के मुख पर क्रोध का-सा भाव व्यक्त हो उठा। उसने कहा—"देखने क्यों नहीं देते?"

श्यामनाथ उठ बैठा और तमककर बोला—"मेरे आने पर तुमने यह भी पूछा कि मैंने खाना खाया है या नहीं? मेरी तबीयत का क्या हाल है, यह भी तुमने नहीं जानना चाहा। बस आते ही लगी बंडल पर झपटने। तुम्हें आज-कल हो क्या गया है, मदर एली···।" वह कहने जा रहा था। 'मदर एलीफैंटा।' महिला के हथिनी के समान भारी-भरकम शरीर को देखकर श्यामनाथ ने अपने मन में उसका यही नाम रख लिया था, पर प्रकट में उसे कभी परिहास में भी इस नाम से पुकारने का साहस नहीं हुआ था। ईसाई महिला मदर एलिज़ाबेथ के नाम से विख्यात थी। रोमन-कैथलिक सम्प्रदाय के किसी 'कानवेण्ट' से सम्भवतः किसी ज़माने में उसका किसी प्रकार का

सम्बन्ध था। उसके पूर्व पुरुष गोआ के निवासी थे।

श्यामनाथ ने मन ही मन उसके भयंकर रूप से असन्तुष्ट रहने पर भी बाहर से उसके प्रति कभी इस प्रकार के आक्रोश का भाव प्रकट नहीं किया था। आज अकस्मात् उसकी आंखों में तीव्र हिंसक भाव देखकर मदर एलिज़ाबेथ क्षण-भर के लिए कुछ सहम गई; पर तुरन्त ही उसने अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया, और तीखे स्वर में बोली—"खैर, इन सब फिज़ूल बातों को जाने दो। यह बताओ कि तुम आज मेरा बिल चुकाने जा रहे हो या नहीं? दो महीने से तुमने न खाने का बिल चुकाया है न किराये का, और इधर बंडल पर बंडल खरीदते जाते हो।" श्यामनाथ उसकी इस शिकायत से अन्यमनस्क-सा हुआ और मौका देखकर मदर एलिज़ाबेथ ने चील की तरह बंडल पर झपट्टा मारकर उसे उठा लिया और फिर कुछ पीछे हटकर उसे खोलकर देखने लगी।

"यह क्या करती हो? यह क्या करती हो?" कहकर श्यामनाथ खटिया से उठकर उसके पास गया।

मदर ने इस बीच बाहर का कागज़ हटाकर देख लिया था कि उसके भीतर क्या चीज़ है। देखकर उसने उसे फिर अपनी मुट्ठी में जकड़ लिया और व्यंग्य के साथ कहा—"समझी! वह उसी छोकरी के लिए है और इधर बुढ़िया के लिए कुछ भी नहीं। ५०-६० रुपये से कम की चीज़ नहीं है। पर अब हवा खाओ, मिस्टर। जब तक मेरा बिल नहीं चुकाते तब तक यह चीज़ तुम्हें वापस नहीं मिलने की। मेरे यहां कोई सदाव्रत नहीं खुला है जो मैं तुम्हें दो-दो महीने तक मुफ्त खाना खिलाती रहूं।"

श्यामनाथ के भीतर किसीने विकट अट्टहास किया। हफ्ते में दो दिन भी वह मदर एलिज़ाबेथ के यहां खाना नहीं खाता था और दो दिन भी जब खाता था तो उसे अधपेट खाकर ही रह जाना पड़ता था।

सहसा श्यामनाथ के भीतर बहुत दिनों से दबी पड़ी हिंसक प्रवृत्ति पूरे वेग से उमड़ उठी। क्रोध से अन्धा होकर अपनी जेब में हाथ डाला और उसके भीतर जो एक चाकू उसके पास सब समय रहता था, उसे उंगलियों से सहलाने लगा। मदर की तत्कालीन असावधानी के क्षण में, उस चाकू को उसकी छाती पर पूरी गहराई से भोंक देने की प्रवृत्ति उसके भीतर अत्यन्त प्रबल हो उठी। क्षण-भर के लिए वह बाह्य ज्ञान से एकदम शून्य हो गया। उसने धीरे से चाकू बाहर निकालना चाहा।

श्यामनाथ के चारों ओर जैसे सघन अंधकार छा गया और प्रकाश की एकमात्र क्षीण रेखा उसके लक्ष्य पर—उसके सामने खड़ी, उस स्थूलकाय और कृष्णमुखी, अधेड़, क्रिश्चियन महिला के ऊपर पड़ी हुई-सी मालूम होती थी।

अपने घातक उद्देश्य की पूर्ति की ओर वह कदम बढ़ाना ही चाहता था कि सहसा एक विकट अट्टहास आकाश से फट पड़ा और श्यामनाथ जैसे घोर दुःस्वप्न से चौंक गया। उसके हाथ का चाकू उसके कांपते हुए हाथ से नीचे गिर गया। उसे उठाने के पहले उसने देखा कि मदर एलिज़ाबेथ बनारसी साड़ी की तह खोलकर देख रही है और किसी अज्ञात कारण से वह अट्टहास कर रही है। उसने श्यामनाथ को चाकू निकालते हुए नहीं देखा था। श्यामनाथ ने फुर्ती से चाकू उठाकर जेब में रख लिया। अपना घातक स्वप्न, जो सम्भवतः दूसरे क्षण वास्तविकता में परिणत हो सकता था, टूट जाने पर उसने चैन की एक लम्बी सांस ली; पर साथ ही उसके भीतर एक विचित्र बेचैनी की अज्ञात लहर-सी उठने लगी, जैसे उसके मन को किसी नस की ऐंठन दूर करने के लिए किसी ने ज़ोर से झटका देकर उसे खींच दिया हो।

जब वह संभला तब उसने मदर से कहा—वह साड़ी मुझे दे दो, मदर! मैं तुम्हारा बिल अभी चुकाए देता हूं।

"तब लाओ, अभी चुकाओ,"—मदर ने बड़ी फुर्ती से दो कदम आगे बढ़ते हुए कहा।

"पहले यह साड़ी मेरे हाथ में दो।" श्यामनाथ को यह विश्वास ही नहीं हो पाता था कि बिल चुकाए जाने पर भी मदर वह साड़ी उसे वापस करेगी। साथ ही उसे यह संदेह भी था कि ठीक उसी जोड़ की, उसी रंग की और उसी ढंग की दूसरी साड़ी बाज़ार में नहीं मिल सकेगी। इतने दिनों के बाद उसके मन की एक साध मुश्किल से पूरी हो पाई थी। क्या यह हस्तिनी इसमें भी बाधा डालेगी? उसने मदर के हाथ से साड़ी छीनने की चेष्टा की, पर मदर ने और ज्यादा मज़बूती से पकड़कर हाथ हटा लिया।

दोनों के बीच छीना-झपटी चल ही रही थी कि नीचे ज़ीने पर किसी के जूतों का मचमचाना सुनाई दिया। श्यामनाथ ने दरवाज़े की ओर देखा तो ठिठककर रह गया। प्रायः २५-२६ वर्ष की एक सांवले रंग की युवती नर्स के कपड़े और ऊंची एड़ीवाला जूता पहने कमरे में पहुंची। मदर ने युवती को देखते ही त्योरी चढ़ाते हुए कहा—"देखती हो मार्था, इस बदमाश को, यह मेरे साथ हाथापाई करने को तैयार है!"

मार्था ने एक बार तीखी दृष्टि से श्यामनाथ की ओर देखा और फिर मदर की ओर। स्पष्ट ही उसकी समझ में कोई बात नहीं आ रही थी। उसने अत्यन्त गम्भीर भाव से, बड़ी ही धीमी आवाज़ में श्यामनाथ की ओर देखकर कहा—"क्यों श्यामनाथ, बात क्या है?"

श्यामनाथ चोरों की-सी शक्ल बनाते हुए बोला, "कुछ नहीं मार्था, मदर ने मेरी साड़ी छीन ली है, मैं उसीको वापस चाहता था।"

"तुम्हारी साड़ी ! तुम किसके लिए···देखूं मदर, वह कैसी साड़ी है।"

मदर ने कहा—"बढ़िया बनारसी साड़ी है और तुम्हारे ही लिए है, क्योंकि मेरे लिए तो हो नहीं सकती। पर मैं तब तक इसे किसीको न दूंगी, जब तक श्यामनाथ मेरा बिल नहीं चुकाता।"

श्यामनाथ ने तत्काल अपनी जेब से बटुवा निकालकर उसमें से दस-दस के पांच नोट बाहर निकाले, और उन्हें मदर की ओर बढ़ाते हुए बोला—"यह लो, और मुझे साड़ी दो। पर ये रुपये मैं तुम्हें मुफ्त में दे रहा हूं, इतना जाने रहो। तुम्हारा बिल पांच रुपये से ज्यादा का नहीं होना चाहिए था!"

मदर ने फिर एक बार चील की तरह झपट्टा मारकर रुपये श्यामनाथ के हाथ से छीन लिए और उन्हें गिनकर मुख पर अत्यन्त प्रसन्नता का भाव झलकाती हुई बोली—"गुड ! यू आर ए डार्लिंग ! यह लो अपनी साड़ी, मुझे इसकी ज़रूरत नहीं।" यह कहकर उसने साड़ी को सामने की एक मेज़ पर पटक दिया। मार्था ने साड़ी को उठाकर बड़े गौर से, परीक्षक की तरह देखा। क्षण-भर के लिए उसके मुख पर मुस्कान की एक किरण दौड़ गई; पर तत्काल वह मुस्कान घनी काली छाया में बदल गई। उसने साड़ी को उठाकर मेज़ पर रख दिया और मर्म के भीतर पैठनेवाली दृष्टि से श्यामनाथ की ओर देखती हुई बहुत ही धीमी, किन्तु सितार के कसे हुए तार की तरह झंकृत होने-वाली आवाज़ में बोली—"यह साड़ी कैसे—किसके लिए लाए हो ?"

श्यामनाथ ने फिर चोरों का-सा मुंह बनाकर कहा—"मदर ने ठीक ही कहा है, मार्था, यह तुम्हारे ही लिए······"

"ओह !" कहकर पहले से भी गम्भीर मुद्रा बनाकर मार्था भीतर चली गई। श्यामनाथ भी चुपचाप अपने कमरे में चला गया। थोड़ी देर बाद मार्था कपड़े बदलकर श्यामनाथ के दरवाज़े के पास खड़ी हो गई। इस बार वह नीले रंग की साड़ी पहने थी। श्यामनाथ को मार्था का साड़ीवाला पहनावा अत्यन्त मोहक लगता था। वह भीतर ही भीतर एक आह भरकर रह गया।

मदर ने नीचे से मार्था को पुकारकर कहा—"मैं बाहर जा रही हूं। कुछ ज़रूरी चीज़ें खरीदनी हैं। नीचे दरवाज़ा खुला है, बन्द कर लेना।"

मार्था नीचे गई और मदर के चले जाने पर भीतर से दरवाज़ा बन्द करके ऊपर चली आई। वह फिर श्यामनाथ के दरवाज़े के पास खड़ी हो गई। फिर एक बार सामने मर्म को चीरकर देखनेवाली अपनी पैनी दृष्टि से श्यामनाथ की ओर देखा। उसके मुख के भाव से ऐसा जान पड़ता था जैसे वह कोई खास बात कहना चाहती हो, पर कह नहीं पाती। श्यामनाथ खटिया पर इस तरह सिमटकर बैठा हुआ था, जैसे विचारक के सामने खून का अपराधी।

मार्था ने दरवाज़े पर से ही कहा—"तुम चाय पी चुके हो ?" उसके मुख पर अभी तक घनी छाया घिरी हुई थी।

"नहीं," मार्था की ओर आधी दृष्टि से देखकर श्यामनाथ ने कहा।

मार्था फिर कुछ देर तक चुपचाप खड़ी रही, और फिर चुपचाप ही चली गई।

प्राय: पन्द्रह मिनट बाद मार्था एक ट्रे में चाय बनाकर ले आई और श्यामनाथ के कमरे में जो एक छोटी-सी गन्दी मेज़ रखी थी, उसपर उसने ट्रे को रख दिया। उसके बाद स्वयं एक लोहे की कुर्सी पर बैठकर चाय कप में डालने लगी। इस समय उसके मुख की घनी गम्भीर छाया बहुत हल्की हो आई थी और मुस्कान की प्राय: अव्यक्त-सी झलक श्यामनाथ को दिखाई देने लगी थी। चाय डालते हुए उसने सहज भाव से कहा—"श्यामनाथ, मैं आज तुमसे एक बात पूछना चाहती हूं। वचन दो कि तुम सीधा और सच्चा उत्तर दोगे और कोई बात मुझसे नहीं छिपाओगे।"

"मैं वचन देता हूं मार्था !"

"तब बताओ कि इस साड़ी के लिए तुम्हारे पास रुपये कहां से आए, और मदन को जो रुपये तुमने दिए वे तुम्हें कहां से मिल गए ? तुमने मुझसे तो कहा था कि तुम बेकार हो।"

श्यामनाथ क्षण-भर के लिए चुप रहा। उस क्षण-भर के लिए उसके मुख की मुद्रा ऐसी विचित्र, बीभत्स, भयानक और साथ ही करुण बन गई, जैसे वह किसी मार्मिक पीड़न और प्राणघाती ऐंठन से विकल हो रहा हो। उसके बाद सहसा उसके मुंह के भाव में, न जाने किस अज्ञात जादू के फलस्वरूप, आमूल परिवर्तन हो गया। उसकी आंखों में, उसमें स्वभाव के विपरीत, एक आश्चर्यजनक साहसिकता झलकने लगी। उसने कहा—"तो तुम सच बात जानना चाहती हो मार्था ?" यह कहते हुए जब वह मार्था की ओर देख रहा था तब उसे ऐसा लगा था कि मार्था को इसके पहले अपने अन्तर के निकट उसने कभी नहीं पाया।

"तुम कुछ भी छिपाओगे तो मैं ताड़ जाऊंगी,"—चाय में चीनी मिलाते हुए मार्था ने कहा।

"तो सुनो ! मैंने आज एक आदमी की गिरह काटी है, और यह पेशा मैं बहुत दिनों से करता आया हूं। मार्था, मुझे क्षमा करो !"

मार्था हाथ में जो चाय का प्याला लेकर श्यामनाथ की ओर बढ़ाने जा रही थी, वह सहसा उसके हाथ से मेज़ पर गिरा। प्याला टूटने से बच गया, केवल चाय उलटकर रह गई। चाय की ओर कुछ भी ध्यान न देकर वह कुछ देर तक एकटक श्यामनाथ की ओर देखती रही जैसे आज पहली बार उसे देख

रही हो। उसके बाद लम्बी सांस लेकर शान्त भाव से बोली—"इतने दिनों तक मेरे मन में इसी तरह का कुछ अस्पष्ट सन्देह था, फिर भी तुम्हारे मुंह से इस तरह की बात सुनने को मैं जैसे तैयार नहीं थी। जो भी हो, तुम्हारी सचाई की मैं तारीफ करती हूं, पर एक बात और तुमसे पूछना चाहती हूं। यह बात मुझसे छिपी नहीं है कि तुम्हारे समान शिक्षित व्यक्ति समाज में कम मिलते हैं और तुम समझदार भी काफी हो। तब इस प्रकार का हीन पेशा तुमने क्यों अख्त्यार किया?"

"मैं इसका भी उत्तर देता हूं,"—ढीठ स्वर में श्यामनाथ ने कहा। इतने दिनों से दुष्कर्म की जो चोर मनोवृत्ति उसके अन्दर को घुन की तरह साफ कर रही थी उसके बाहर निकल जाने पर एक स्वस्थ और सबल पौरुष का भाव उसके मुख पर छा गया, जो मार्था को बहुत प्रिय लग रहा था। श्यामनाथ कहने लगा—"पैसेवाले सेठों और बड़ी-बड़ी तनख्वाहों वाले बाबुओं की जेबें काटकर मुझे एक आश्चर्यजनक सुख प्राप्त होता है मार्था। केवल उसी सुख के लिए मैं गिरहें काटता रहा हूं, अपनी गरीबी को दूर करने के उद्देश्य से नहीं। किसीकी गिरह काटकर मैं इधर-उधर पैसों को लुटा देता हूं, अपने उपयोग में उसे नहीं के बराबर लाता हूं—आज की घटना को अपवाद ही समझो, जबकि संसार के अधिकांश मनुष्य दाने-दाने को मुहताज हो रहे हैं तब इन धनिकों का रुपया बटोरने का कोई अधिकार है, मैं ऐसा नहीं मानता। इसलिए समय-समय पर उन लोगों की गांठ काटकर मैं मन ही मन अपने को निर्धन और दलितों का स्वयंसिद्ध प्रतिनिधि समझकर खुश हो लेता हूं।"

मार्था बड़े गौर से उसकी बातें सुन रही थी। धीरे-धीरे मार्था की आंखों में एक निराला उन्माद नशे की तरह चढ़ता जाता था। श्यामनाथ की बात पूरी हो जाने पर वह कुछ तीव्र स्वर में बोली—"मैं तुम्हारी इस मनोवृत्ति को धिक्कार योग्य समझती हूं। यह मैं जानती हूं कि एक विद्रोह का तीव्र आक्रोश तुम्हारे भीतर घर किए हुए है, इसीलिए मैं धिक्कारती हूं। ज़रा एक बार सोचो तो सही, तुमने अपने विद्रोह को जो विकृत रूप दिया है उसने तुम्हारी कैसी दुर्गति कर डाली है! अपने रूखे-सूखे बाल, मुरझाया हुआ मुंह, चोरों की-सी आंखें, गंदे कपड़े, अधपेट भोजन, उद्देश्यहीन अस्तव्यस्त जीवन, घृणित, दुष्कर्मी की दिनचर्या, इन सब बातों पर गौर करो। तुममें योग्यता है, तुम शिक्षित भी हो और सुसंस्कृत भी। तुम्हारे पास मस्तिष्क है, हृदय है, सब कुछ है। तिसपर भी तुम लोगों की गिरहें काटकर मन में यह समझकर पुलकित होते रहते हो कि तुमने समाज में ही समान शोषितों का बदला चुका लिया अरे, भले आदमी, अगर तुमने अपने इस मार्मिक विद्रोह की प्रवृत्ति को स्वर रूप दिया होता, तो नई सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूतों के साथ तुम्हारा

स्थान होता। पर तुमने एक हीन और संकीर्ण घेरे में अपने को बांध लिया है और उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहते हो। उठो! अपने भीतर गहराई से नज़र डालो। अब भी संभल जाओ, और आज से प्रतिज्ञा कर लो कि अपने विद्रोह को संकीर्ण और विकृत रूप न देकर सामूहिक और व्यापक कल्याणकारी रूप देने के लिए कमर कसकर खड़े हो जाओगे।"

मार्था क्षण-भर के लिए अपने अन्तर की किसी अज्ञात चिन्ता में खो गई, किन्तु दूसरे ही क्षण वह फिर कहने लगी—"मुझे देखो! मैं तुमसे किसी कदर कम अत्याचार-पीड़ित नहीं रही हूं। इस चुड़ैल मदर एलिज़ाबेथ ने मुझे कैसी-कैसी खतरनाक परिस्थितियों में डाला है और अर्थ के पैशाचिक लोभ से भरी क्या-क्या दुर्गति कराई है, इसका इतिहास अगर मैं तुम्हें सुनाऊं तो तुम्हारे रोंगटे खड़े हो उठेंगे; पर मैंने अपने विद्रोह को भरसक विकृत रूप में परिस्फुटित नहीं होने दिया है। मेरे मन में एक बहुत बड़ी महत्त्वाकांक्षा है। मैं उसको चरितार्थ करने के लिए बरसों से उचित अवसर की प्रतीक्षा में हूं और अपने विद्रोह की भावना को उसीके लिए सुरक्षित रखे हुए हूं।"

श्यामनाथ आंखें फाड़-फाड़कर तद्गत भाव से मार्था की बातें सुन रहा था। मार्था जब कुछ रुकी, वह तब भी कुछ नहीं बोला। मार्था कहती चली गई—"श्यामनाथ, मैं जानती हूं कि तुम मेरे लिए सब कुछ कर सकते हो, इसलिए आज एक वचन तुमसे लेना चाहती हूं। आज से यह प्रतिज्ञा कर लो कि चोरों के इस घृणित पेशे को सदा के लिए त्याग दोगे, बोलो। मेरा कहना मानोगे?"

श्यामनाथ बोला—"मैं जानता हूं मार्था, इसके लिए मुझे अपने-आप से बहुत लड़ना पड़ेगा, पर विश्वास रखो कि आज से मरते दम तक मैं तुम्हारी इच्छा के विपरीत कार्य नहीं करूंगा।"

"तो आओ, आज हम दोनों जीवन के एक ही लक्ष्य के लिए समान रूप से प्रतिज्ञाबद्ध हो जाएं। दोनों आजीवन एक ही आदर्श के लिए एक-दूसरे के घनिष्ठतम सहयोग में रहने की शपथ लें।"

श्यामनाथ ने कहा—"मैं शपथ लेता हूं!"

"चलो इस शपथ की पूर्णाहुति नीचे होगी," यह कहकर मार्था ने श्यामनाथ का हाथ पकड़कर उसे उठाया। बाहरवाले कमरे से नई बनारसी साड़ी उठाकर मार्था ने अपने हाथ में ले ली। दोनों नीचे गए। नीचे अंगीठी में अभी तक कोयले दहक रहे थे। मार्था ने सहसा उस नई साड़ी को अंगीठी में डाल दिया। श्यामनाथ का हृदय हाय-हाय कर उठा। उसने उचककर कहा—"यह क्या करती हो?" पर मार्था ने ज़ोर से उसका हाथ पकड़ लिया, और बोली—

आहुति डालने के बाद पक्की होती है। हम दोनों के जीवन की सबसे बड़ी प्रतिज्ञा (गठजोड़) घृणित कमाई की आहुति के बाद ही पक्की हो सकेगी। आज से हर तरह से हम दोनों के नये जीवन का आरम्भ होगा।"

श्यामनाथ क्षण-भर के लिए भ्रांत भाव से मार्था की पुलकोन्माद-भरी आंखों की ओर देखता रहा, उसके बाद सहसा उसने मार्था को गले से लगा लिया।

मदर एलिज़ाबेथ को इतने बड़े कांड की सूचना का क्षीणतम आभास भी कभी न मिल पाया।

अभिशप्त धन

अवध के एक छोटे किन्तु प्रसिद्ध शहर के उत्तरी कोने में एक बहुत बड़ी कोठी है, जो नीली कोठी के नाम से विख्यात है। पुश्त-दर-पुश्त से इस कोठी के अधिकारी इसके बाहर की पुताई नीले रंग से ही कराते चले आए हैं, इसीलिए उसका उक्त नाम पड़ा है। कोई-कोई इसे शेरकोठी भी कहते हैं। प्रधान फाटक के दोनों ओर दो सिंह-मूर्तियां एक-एक गोले पर अपना पंजा जमाए खड़ी दिखाई देती हैं। इसीलिए लोगों ने उक्त कोठी का यह नामकरण भी कर दिया है। सन सत्तावन के गदर से भी बहुत पहले यह मकान बना था। कहा जाता है कि इस कोठी के वर्तमान नामधारी मालिकों के पूर्वजों ने गदर के समय अंग्रेज़ों को धन, जन और तन से सहायता दी थी और बहुत-सी मेमों और कुछ साहबों को उनके प्राण-संकट के समय इसी कोठी में आश्रय भी दिया था। इसके एवज़ में गदर समाप्त होने पर सरकार बहादुर ने इन लोगों को खिलअत के साथ एक खासी बड़ी जागीर भी बख्शी थी।

ठाकुर रणधीर सिंह का जन्म इसी प्रतापी वंश में हुआ था। कहा जाता है कि ठाकुर रणधीर सिंह के कुल का पूर्व इतिहास बड़े-बड़े वीरतापूर्ण घटना-चक्रों से पूर्ण रहा है। चन्देल राजपूतों के इतिहास से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पीछे अवध के नवाबी युग में भी इस कुल के सपूतों ने राजनीतिक षड्यन्त्रों में विशेष भाग लेकर बड़ी प्रतिष्ठा पाई। वारेन हेस्टिंग्स से लेकर लार्ड डलहौज़ी के ज़माने तक के सभी लार्डों को वे नवाबों के गुप्त रहस्यों का पता देते रहे—नवाबों का नमक खाते हुए!

कुछ भी हो, हम ठाकुर रणधीर सिंह की बात कर रहे थे। ठाकुर साहब का जन्म सन् १८४४ में हुआ था। अर्थात् गदर के समय आपकी अवस्था तेरह वर्ष की थी। हमारा परिचय उनसे तब हुआ था, जब उनकी अवस्था ८५ और ९० के बीच की रही होगी। उनका व्यक्तित्व देखने ही योग्य था। स्वास्थ्य और रौब से तमतमाया हुआ चौड़ा कपाल, किसी विशाल पक्षी की चोंच के समान नुकीली नाक, सफेद भौंहों के नीचे गिद्ध के समान तीक्ष्ण दृष्टिवाली दो आंखें, तांबे की रंगवाली गंजी चांद के दोनों ओर सफेद बालों के दा चांद, वृद्ध किन्तु मत्त मतंग के समान भारी-भरकम शरीर और उसीकी तरह झूमती हुई वह धीर-मन्थर चाल। और उनके गोले की वह आवाज़···!

जब वह अपने किसी नौकर को पुकारते तो मालूम होता जैसे कोई शेर दहाड़ रहा है। और जब ठठाकर हंसते तो ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई पहाड़ टूट रहा हो। उनके गुरु-गम्भीर अस्तित्व-मात्र से उस विशाल कोठी के सभी अधिवासी अकारण ही भय से कम्पायमान रहते। केवल अपनी कोठी के भीतर ही नहीं, सारे शहर की प्रतिष्ठित पुरुष-मण्डली के ऊपर भी उनकी खूब धाक जमी हुई थी। बिना उनके पास आकर उनकी सलाह लिए शहरवाले किसी भी सार्वजनिक कार्य मे हाथ डालने का साहस नहीं करते थे। पर बिना काम के कभी कोई उनके पास जाने का साहस नहीं करता था, क्योंकि उनके भीमकाय व्यक्तित्व का भार क्षण-भर के लिए सहन करना कोई आसान काम नहीं था। फल यह होता था कि बूढ़े बाबा को अक्सर अपने रहस्यमय व्यक्तित्व की निराली दुनिया के भीतर अकेले चक्कर काटने के लिए बाध्य होना पड़ता। अपने घरवालों से भी उनकी अधिक बातें नहीं होती थीं—आवश्यक काम की बातों को छोड़कर।

कोठी के पश्चिमी कोने में सबसे नीचे के हिस्से में बुड्ढ रहा करते थे। आश्चर्य है कि इतनी बड़ी कोठी के मालिक होने पर भी ऊपर की मंजिलों के खुले हुए, हवादार, साफ और सुथरे कमरों को छोड़कर बूढ़े बाबा ने सबसे नीचे एक कोने में सील की बदबू से भरे हुए अंधकारमय कमरे में रहना क्यों पसन्द किया! पर जब से उन्हें पेंशन मिली तब से वह बराबर (प्रायः तीन वर्ष से) इसीमें रहते थे। यह भी कम आश्चर्यजनक नहीं है कि बुड्ढ के स्वास्थ्य को इस घोर अस्वास्थ्यकर कमरे में इतने वर्षों तक रहने पर भी जरा ठेस नहीं पहुंची थी। पहले ही कहा जा चुका है कि वह अपने अंधकारमय कमरे में अक्सर अकेले ही बैठे रहते और हुक्का गुड़गुड़ाते हुए उस बुढ़ापे में भी बिना चश्मे की सहायता के या तो हिन्दी का समाचार-पत्र पढ़ने में लगे रहते (अंग्रेज़ी वह बहुत कम जानते थे, यद्यपि अंग्रेज अफसरों के संसर्ग में उन्हें घनिष्ठ रूप से आना पड़ा था) या अपनी या अपने सगे-सम्बन्धियों की ज़मीन-जायदाद के हिसाब-किताब से सम्बन्ध रखनेवाले अथवा कुछ दूसरी तरह के ज़रूरी कागज़ात देखने में व्यस्त रहते। जिस कमरे में दिन-दहाड़े दिया जलाने की ज़रूरत पड़नी चाहिए थी, वहां वह तीसरे पहर भी खूब मज़े में (और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बिना चश्मे के) लिखने-पढ़ने का काम करते रहते!

ठाकुर साहब के पूर्व जीवन के सम्बन्ध में तरह-तरह के किस्से जनता में प्रचलित थे। इतना तो सबको निश्चित रूप से मालूम था कि पहले वह कुछ दिनों तक अवध के किसी ज़िले में पेशकार रहे थे और फिरतहसीलदार के पद पर नियुक्त कर दिए गए थे। पर कहा जाता था कि इस साधारण पद पर रहकर

भी उन्होंने अपनी तहसील के लोगों पर अपने कूटचक्रों और निर्मम अत्याचारों के कारण आतंक फैला रखा था कि सब त्राहि-त्राहि चिल्लाया करते थे। इनके वंश पर सरकार बहादुर की विशेष कृपा होने के कारण इनके घोर से घोर अत्याचार की शिकायत पर कोई सुनवाई नहीं होती थी। ज़मींदार और तालुकेदार किसानों का रक्त चूसते थे और ठाकुर साहब के बारे में कहा जाता था कि वह ज़मींदारों का रक्त चूसते थे। खून के बहुत-से मामलों को वे इस तरह दबा दिया करते थे कि जानकारों को आश्चर्य हुए बिना न रहता। कई बार निर्दोष व्यक्तियों के ऊपर हत्या का दोष मढ़कर, प्रमाणों का ऐसा पक्का प्रबन्ध कर दिया जाता कि उन्हें फांसी पर चढ़ने से ब्रह्मा भी नहीं बचा सकता था। यह भी कहा जा सकता था कि उन्होंने कभी तो अर्थ के लोभ से और कभी केवल व्यक्तिगत विद्वेष के कारण स्वयं बहुत-सी हत्याओं का षड्यंत्र रचा था। उनकी इस प्रकार की और भी बहुत-सी करतूतों के किस्सों की यथार्थता में लोगों को पूरा विश्वास था और इसी विश्वास के आधार पर यह धारणा भी स्वभावतः लोगों के मन में बद्धमूल थी कि ठाकुर साहब ने अपनी नौकरी से लाखों रुपया जोड़ा है, उनके पूर्वजों द्वारा संचित जो धन है, सो तो है ही।

ठाकुर साहब के दो लड़कों की मृत्यु छुटपन में ही हो चुकी थी। केवल एक लड़का और तीन लड़कियां शेष रह गए थे। उनके लड़के का नाम था बलवीर सिंह। ठाकुर बलवीर सिंह की बैठक बड़े ठाठ से ऊपर के बड़े कमरे में जमती थी। उनके पूर्वजों ने युगों से तोहफों और अजायबघरों में रखने के योग्य चीज़ों को जमा किया था। वे सब ठाकुर बलवीर सिंह के कमरे में सुसज्जित थीं। छोटे ठाकुर साहब में फिज़ूलखर्ची की कोई खास आदत न होने पर भी, अपने कुल की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए उन्हें कभी-कभी अपने मित्रों को शराब पिलानी पड़ती और कबाब खिलाना पड़ता था। इस तरह के खर्चों के लिए उन्हें बुढ़ऊ से रुपया मांगने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। सच बात तो यह है कि उन्हें बुढ़ऊ से किसी बात के लिए भी कुछ कहने का साहस नहीं होता था। वह किसी खास ही मौके पर—अनिवार्य आवश्यकता पड़ने पर ही, अपने पिता के पास जाते थे। अकारण ही वह अपने पिता से घबराते थे। बूढ़े बाबा उन्हें वास्तव में बहुत चाहते थे और कभी एक दिन के लिए भी उन्होंने अपने इकलौते पुत्र से कोई कड़ी बात नहीं कही।

कुछ भी हो, ठाकुर बलवीर सिंह अपनी मां के मार्फत बुढ़ऊ से रुपया ऐंठते थे और मां के व्यक्तिगत धन पर भी हाथ साफ करते रहते।

लड़कियों के विवाह बूढ़े बाबा ने बड़ी धूमधाम से किए थे और नाती-पोतों के जन्मोत्सव के अवसरों पर भी उन्होंने एक लाख से अधिक रुपये खर्च किए थे। इन खर्चों के अलावा अपने चचाज़ाद भाइयों के लड़के-लड़कियों और

नाती-पोतों के सम्बन्ध में भी उन्होंने कम खर्चनशीनी नहीं दिखाई। इन सब कारणों तथा और भी कुछ अज्ञात कारणों से उनकी मुट्ठी कुछ समय से सिकुड़ने लगी थी और ठाकुर बलवीर सिंह के मित्र-भोजों पर भी इस सिकुड़न का खासा अच्छा असर पड़ने लगा था। बलवीर सिंह के मन में अकस्मात् अपने भविष्य के सम्बन्ध में एक अज्ञात आशंका-सी होने लगी थी। उन्हें इस बात का कुछ भी पता न था, कि उनके पिता का अर्थ किस बैंक में, अथवा किन व्यक्तियों के पास अथवा किस बक्स में जमा है। उनकी जमीन-जायदाद के हिस्से कहां-कहां पर हैं और किन-किन जरियों से उन्हें अर्थ प्राप्त होता रहता है। न तो उन्हें अपने पिता से इस सम्बन्ध में कभी कुछ पूछने का साहस होता था, न कभी पूछने की कोई खास इच्छा ही हुई और न उनके पिता ने ही कभी उन्हें बताना चाहा।

पर बुढ़ऊ पहले से कुछ तंगहाल भले ही हो गए हों, किन्तु इस बात से उनके चेहरे पर चिन्ता की एक भी रेखा नहीं दिखाई दी और उन्होंने पूर्ववत् कभी दहाड़ना और कभी अट्टहास करना जारी रखा। अट्टहास वह उसी समय करते, जब अपने छोटे-छोटे नाती-पोतों को अपने पास बैठाकर हास-परिहास और स्नेह-प्रेम की बातें करते। बच्चों की इच्छा उनके पास रहने की न होने पर भी मिठाई के लोभ से कुछ समय तक वे नित्य उनके पास बैठते और खेलते थे।

इधर कुछ वर्षों से बुढ़ऊ को एक विचित्र आदत पड़ गई थी। वह रात में सोते हुए अकस्मात् पलंग पर नींद की हालत में ही उठ खड़े होते और किसी अदृश्य और अज्ञात व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को ललकारते हुए कहते, "इधर आए नहीं कि तलवार से काट गिराऊंगा, गोली से मार डालूंगा।" यह कहते हुए अनाप-शनाप गालियां बकने लगते। सुबह उठते तो उन्हें रात की इस घटना की बिलकुल याद न रहती। जो लोग उनके साथ घनिष्ठ रूप से परिचित थे वे जानते थे कि बुढ़ऊ के मन में बहुत-सी बातें दबी हुई हैं जिन्हें वह अपनी गुरु-गम्भीर प्रकृति के कारण एक भी व्यक्ति के आगे व्यक्त करना नहीं चाहते और रात को वह जो बौड़मपन दिखाते हैं वह मन के उसी दबाव की प्रतिक्रिया है।

एक दिन अकस्मात् बूढ़े बाबा को कुछ कमजोरी-सी मालूम हुई और वह पलंग पर लेट गए। पहले तो लोगों ने समझा कि साधारण-सी बात है, पर दूसरे दिन हालत और ज्यादा खराब दिखाई दी। वह कभी छाती में दर्द बताते और कभी गांठों में, और कराहते हुए करवट बदलते रहते। डाक्टर ने ठाकुर बलवीर सिंह के कानों में चुपके से बताया कि बीमारी असाध्य है। उसने अंग्रेजी में उस रोग का एक निराला नाम भी बताया। छोटे ठाकुर

साहब बहुत घबरा उठे। वह आज तक कुछ विचित्र भ्रम में पड़े हुए थे और वास्तविक भावना अपने मन के बहुत नीचे दबाकर इस झूठे विश्वास को जकड़े हुए थे कि उनके पिता की मृत्यु की घड़ी किसी अनिश्चित समय तक आ ही नहीं सकती। यद्यपि वह अभी तक अपने को 'बच्चा' ही समझना चाहते थे, और उनके इस असंगत विश्वास को आघात पहुंचाने का कोई कारण भी आज तक नहीं आया था, क्योंकि कुटुम्ब की भीतरी बातों को उनकी मां अच्छी तरह से संभाले हुए थीं और बाहरी बातों को उनके पिताजी। आज अचानक एक ज़बर्दस्त धक्के से उनकी आंखें खुलीं और वह इस बात के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित और उतावले हो उठे कि अपने पिता से ज़मीन-जायदाद और रुपये-पैसे का सब हिसाब-किताब समझ-बूझ लें। पर वह उनसे कुछ कह न सके और बुढ़ऊ का होश-हवास दुरुस्त होते हुए भी उन्होंने किसी बात के सम्बन्ध में कोई सूचना देने का रुख नहीं दिखाया।

पर इस सम्बन्ध में उनकी माता उनसे भी अधिक उत्कण्ठित हो उठी थीं। वह रह न सकीं और उन्होंने मौका पाते ही बुढ़ऊ से कहा—"बेटे को सब हिसाब-किताब समझा-बुझा दो।" बुढ़ऊ उत्तर में केवल कराहने लगे। पर उनकी अर्द्धांगिनी उन्हें बार-बार इस बात के लिए तंग करने लगी और ठाकुर बलवीर सिंह उनके बक्सों को टटोलने लगे। अपने भविष्य के स्वार्थ की चिन्ता में मां-बेटा ऐसे व्यस्त हो उठे कि बुढ़ऊ के इलाज के सम्बन्ध में काफी लापरवाही होने लगी। एक बार माता-पुत्र एक खास बक्स को खोलने में व्यस्त थे, जिसमें उन्हें पूरी उम्मीद थी कि सारे हिसाब का पता लग जाएगा। मरणासन्न बुढ़ऊ के सामने उन्हींके कमरे में यह सब काण्ड हो रहा था। वह अपनी शेष शक्ति का पूरा उपयोग करते हुए सहसा ऐसे ज़ोरों से झल्लाकर चीख उठे कि दोनों चौंककर उनकी ओर देखने लगे। बुढ़ऊ ने खांसते हुए और कमज़ोरी और क्रोध से कांपते हुए कहा—"कमीनो! नालायको! तुम्हें मेरे इलाज का बिलकुल ही ख्याल नहीं है और अभी से मेरे मरने का निश्चय किए बैठे हो! मैं हरगिज़ नहीं मरूंगा। हरगिज़ नहीं! और न कभी तुम्हें इस जन्म में अपने हिसाब-किताब का कुछ भी पता लगने दूंगा।" यह कहकर वह ज़ोरों से हांफने लगे। उनकी रही-सही ताकत जाती रही। उनके मुंह से कै के रूप में खून निकलने लगा और प्रायः बीस मिनट बाद उनके प्राणपखेरू उड़ गए।

वास्तव में ठाकुर बलवीर सिंह को हिसाब-किताब का कहीं कुछ भी पता न चला। सब बक्सों की खाक छान डाली गई। कागज़ात बहुत-से मिले, पर उनके अपने काम का कोई न मिला। एक बक्स में १३३ रुपये पड़े हुए मिले। इसके अलावा कोई नकदी नहीं मिली। पिता के संचित अर्थ का तो कोई पता

न चला, पर कुछ ही समय बाद उन लोगों के नोटिस आने लगे, जिनसे उनके पिता ने क़र्ज़ लिया था। धीरे-धीरे मालूम हुआ कि उनके पिता कई हज़ार रुपया क़र्ज़ करके मरे थे। ठाकुर बलवीर सिंह माथा ठोंककर रह गए और मृत पिता को मन ही मन जी भरकर कोसने लगे, जिसने आज तक उन्हें इतने बड़े धोखे में रखा था। इस अप्रत्याशित वज्रपात को सहन करने की शक्ति वह सपने में भी नहीं पा रहे थे। अपने प्रतिष्ठित कुल की परम्परागत मर्यादा की रक्षा कर सकना तो दरकिनार, अपने और अपने कुटुम्बीजनों के दो जून के भोजन का भी अच्छी तरह से प्रबन्ध हो सकना अब उन्हें कठिन दिखाई दे रहा था। वह सोचने लगे कि बुड्ढा न तो दानी ही था, न उसमें फ़िज़ूलख़र्ची की ही आदत थी, पर कुल की मर्यादा का उसे ख्याल था। उसने भरसक अपने जीते-जी अपने कुटुम्बीजनों और सगे-सम्बन्धियों को कभी दबी हुई हालत में रहने नहीं दिया, भले ही उस चेष्टा में उन्हें दूसरों का गला बड़ी बेरहमी से काटना पड़ा हो। उनके मरने के बाद उनके वंशवाले चाहे तबाह हो जाएं, चाहे जहन्नुम में चले जाएं, इस बात की चिन्ता उन्होंने नहीं की। इतने स्वार्थी निकले वह! इस तरह की बातें सोचते-सोचते ठाकुर बलवीर सिंह का सिर बुरी तरह भिन्नाने लगता और उन्हें ऐसा मालूम होने लगता, जैसे उनके मस्तिष्क की नसों के तार टूटना चाहते हों।

बुड्ढे के सब कमरों की खाक छानने पर भी उन्हें कहीं एक भी टुकड़ा ऐसा नहीं मिला, जिससे उन्हें नाममात्र को भी सान्त्वना मिल सकती। पर कोई प्रमाण न होने पर भी उनके मन के किसी छिपे हुए कोने में यह स्पष्ट सन्देह बना हुआ था कि बुढ़ऊ कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ माल अवश्य छोड़ गए हैं। पर कहां? किसके पास?

कोई आशा न होने पर भी वह पागलों की तरह लगातार कई दिन तक अपने पिता के कमरों की दीवारों के रहस्यमय छिद्रों में उंगली डाल-डालकर किसी अज्ञात और महत्त्वपूर्ण कागज़ के टुकड़े की खोज में लगे रहे। कभी-कभी सारी रात खोजते-खोजते बीत जाती, पर फल कुछ न होता। रात को जब वह खोज में व्यस्त रहते तब बीच-बीच में मृत पिता को ऐसा ठठाकर अट्टहास करते हुए पाते कि बुरी तरह वह चौंक उठते। तथापि उनके सिर पर एक ऐसे विचित्र पागलपन का भूत सवार हो गया था कि किसी भी बात का भय उनके मन में नहीं रह गया था।

दिन-दिन वह सूखकर कांटा होने लगे। घर से बाहर वह नहीं निकलते थे और न किसीसे मिलते-जुलते थे। उन्होंने दाढ़ी बनानी भी छोड़ दी थी और उनके सिर के बाल बढ़कर जटाओं की तरह दिखाई देने लगे थे। पर उन्हें इन सब बातों की कोई चिंता न थी। वह अपनी कल्पना की एक

निराली ही दुनिया में यक्षों और भूतों के साथ रहने लगे थे।

एक दिन अकस्मात् उनके मन में एक अनोखी प्रेरणा उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा कि उनके पिता लगातार इतने वर्षों तक उन अंधेरे कमरों में क्यों पड़े रहे? यह प्रश्न ठाकुर बलवीर सिंह के अज्ञात मन में शायद पहले भी कभी उठा हो, पर अज्ञात रूप से आज पहली बार यह उनके मन में उदित हुआ। और इस प्रश्न के उठते हुए एक अज्ञात प्रकाश उनके मन की आंखों के सामने चमक उठा। उन्होंने सोचा कि हो-न-हो, उन अंधेरे कमरों में से किसी एक में अवश्य ही बुढ़ऊ ने अपना संचित धन गाड़ रखा है। नहीं तो वह यक्ष की तरह वर्षों तक इन अंधेरे, गन्दे और अस्वास्थ्यकर कमरों पर पहरा क्यों देता रहा?

इस अद्भुत प्रेरणा से प्रेरित होकर उन्होंने उसी रात को इस बात का पता लगाने का निश्चय किया कि किस स्थान पर धन का गाड़ा जाना सम्भव हो सकता है।

बाहर के दोनों किवाड़ों को भीतर से अच्छी तरह बन्द करके एक हाथ में लालटेन और एक हाथ में कुदाली लेकर वह सम्भव-स्थान की तलाश करने लगे। बाहर के कमरे में बुढ़ऊ लिखने-पढ़ने का काम किया करते थे। वहां धन गाड़ने की सम्भावना नहीं के बराबर थी। बीच वाले कमरे में वह सोते थे। जिस स्थान पर उसकी चारपाई पड़ी रहती थी वहां से टाट और दरी हटाकर एक झाड़ू से फर्श को साफ करके उन्होंने बड़े गौर से देखना शुरू किया कि कोई चिह्न कहीं पर है या नहीं। कहीं कुछ अन्दाज़ नहीं आया। अन्त में वह सबसे पिछले कमरे में गए। यहां अपने जीवन में शायद वह प्रथम बार आए होंगे। बुढ़ऊ जब जीवित थे तब भी यह कमरा हमेशा बन्द रहता था। फर्श के ऊपर टाट तक नहीं बिछा हुआ था, न वहां गर्द ही दिखाई देती थी। बरसों से जमी हुई सील औरमैल ने फर्श को कोलतार की तरह काला कर रखा था।

बड़े गौर से इधर-उधर देखते-देखते अकस्मात् एक स्थान पर उनकी आंखें किसी रहस्यमय आकर्षण शक्ति द्वारा टिक-सी गईं। उस स्थान पर सील और मैल के ऊपर भी सिन्दूर से अंकित त्रिशूल का रक्त-चित्र स्पष्ट झलक रहा था। ठाकुर बलवीर सिंह के शरीर में और मन में एक उन्माद समा गया। उन्होंने कुदाली से उस स्थान को खोदना शुरू कर दिया। ऊपर की ईंट निकालने में कुछ समय लगा। उसके बाद वह मिट्टी की तह पर तह खोदते गए। उन्हें न अपने तन की सुध थी, न बदन की। जाड़े के दिन होने पर भी वे पसीने से तर-बतर हुए जाते थे। खोदते-खोदते जब यह काफी गहराई पर पहुंचे तो किसी धातु से निर्मित एक घड़े पर कुदाली की चोट पड़ी। हड़बड़ाकर उन्होंने घड़ा पकड़ा। उसके ऊपर का ढकना हटाकर भीतर

हाथ डाला। देखा कि घड़ा सोने की मोहरों से भरा पड़ा था। उन्माद और उल्लास से ठाकुर साहब का चेहरा जगमगा उठा। घड़े के पास ही उनके पैरों में कांटेदार लकड़ी की तरह की कोई चीज़ गड़ी। उन्होंने उसे हटाना चाहा तो देखा कि किसी मनुष्य का अथवा किसी जानवर का अस्थिकंकाल-सा है। उनके मन में कुछ भय का-सा संचार हुआ। पर अधिक नहीं। वह आर्कमिडीज़ की तरह चिल्लाना चाहते थे कि 'मैंने पा लिया है, पा लिया है।' पर मन ही मन चिल्लाकर रह गए। उन्होंने घड़े का ढकना बन्द करके गड्ढे को फिर से मिट्टी से भरना शुरू कर दिया। भरने के बाद ईंटों को पहले की तरह तरकीब से सजाकर इस ढंग से लगा दिया कि देखने पर मालूम भी नहीं पड़ सकता था कि उस स्थान को किसीने खोदा है।

सब कुछ कर चुकने के बाद उन्होंने सन्तोष की एक लम्बी सांस लेनी चाही कि संचित धन उनके हाथ आ गया, अब वह जब चाहें उसका उपयोग कर सकते हैं। पर इसी समय उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि उन्हें गश आने को है। इतने परिश्रम के बाद वह बेतरह हांफ रहे थे, ऐसा मालूम होता था जैसे उनका अंग-अंग टूटने को हो और हृदय ऐसे ज़ोरों से धड़क रहा था कि मालूम होता था कि जैसे अपने स्थान से हटकर पेट के नीचे गिरना चाहता हो। किसी तरह लड़खड़ाते हुए वह बाहर के कमरे में आए और वहीं दरी के ऊपर चारों खाने चित लेट गए।

दूसरे दिन चारों तरफ खोजने के बाद जब दरवाज़ा तोड़कर लोगों ने भीतर आकर देखा तो वह सोने की मोहरों की तृष्णा के परे पहुंच चुके थे।

इस समय उनके दो लड़के जीवित हैं। उन्हें मोहरों के घड़े का हाल कुछ भी नहीं मालूम है। दोनों गरीबी की हालत में हैं और मुश्किल से दिन काट पाते हैं। मकान एक प्रकार से महाजनों का ही हो चुका है।

ठाकुर रणधीर सिंह इच्छा रहते हुए भी भाग्य के जिस षड्यंत्रवश अपने बेटे को घड़े का हाल न बता पाए, ठाकुर बलवीर सिंह भी उसी भाग्य की विडम्बना के कारण अपने बेटों को उसकी सूचना न दे पाए। न जाने किस आत्मा का अभिशाप उस संचित धन पर पड़ा हुआ था।

पागल की सफाई

नारायण भैया का वह तूफानी रूप जब मैंने पहले-पहल देखा तब मैं यह कल्पना ही नहीं कर पाया कि वह वही नारायण भैया हैं जिनके विनोद-प्रिय स्वभाव से मैं बचपन से परिचित था। उम्र में वह मुझसे दर्जनों वर्ष बड़े थे। पर अपनी सहृदयता के कारण वह छोटे बच्चों के बीच उतने ही लोक-प्रिय थे जितने सयानों के बीच। मुझे याद है कि जब वसंत-पंचमी के बाद से हमारे छोटे पहाड़ी शहर में जगह-जगह होली से संबंधित संगीत-मंडलियां बैठा करती थीं तब मैं और मेरे ही वय के दूसरे छोटे-छोटे बच्चे दर्शक की हैसियत से उनमें प्रवेश पाने के लिए कितने उत्सुक रहा करते थे। पर वयस्क दर्शक और संगीतज्ञों को हम लोगों की उपस्थिति असह्य हो उठती थी और वे लोग हमें दुत्कारकर बाहर निकल जाने को कहते थे! बच्चों को भी किसी आनन्दोत्सव में सम्मिलित होने का कोई अधिकार है, इसे हमारे यहां की वयस्क मंडली मानने को तैयार न थी। हम लोग अत्यन्त करुण और दीन दृष्टि से याचना करते थे कि हमें भी एक कोने में चुपचाप बैठे रहने और अपनी समर्थता के अनुसार संगीत का उपभोग करने दिया जाए। पर किसीका भी हृदय हमारी उस दयनीय और मूक प्रार्थना से नहीं पिघलता था—केवल एक व्यक्ति को छोड़कर। और वह अपवाद-स्वरूप व्यक्ति थे हमारे वही नारायण भैया। वह अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करके बच्चों को बैठे रहने के लिए कहते थे और दुतकारने वालों का मुंह बन्द कर देते थे। क्योंकि वह स्वयं होली-संबंधी संगीत-मंडलियों के विशेष 'आगनाइज़र' होने के अतिरिक्त और अपनी सारी विनोदप्रियता के बावजूद, भारी दबंग आदमी थे, और उनकी बात के विरुद्ध चलने का साहस किसीमें नहीं था।

मेरे प्रति नारायण भैया बराबर विशेष कृपालु रहते थे, जब कभी कहीं होली की कोई बैठक होती थी, तब मुझे देखते ही वह अपने पास बुला लेते थे। उनकी कृपा से मुझे दावतों में सयानों के बराबर ही हिस्सा मिलता था। दूसरे बच्चों की तरह केवल आधे लड्डू, आधी बर्फी तक ही मेरा भाग (और भाग्य भी) सीमित नहीं रहता था।

होली के कुछ समय पहले से लेकर धुलैंडी तक नारायण भैया केवल संगीत की बैठकों में ही भाग लेते थे, बल्कि रंग में मस्त जन-साधारण की

टोली जब बाहर निकलती थी तब उसमें सम्मिलित होकर वह मस्तानी अदा में झूमते रहते थे। विविध रंगों से तर कपड़े पहने हुए और अबीर और गुलाल पुते हुए मुखों से बन्दरों की-सी चेष्टाएं करते हुए जब प्रोलेतेरियत श्रेणी का रंगप्रिय जन-समूह जलूस बांधकर चला जाता था तब नारायण भैया उनका नायकत्व करते हुए, कोरस में मस्ताना राग गाते हुए चले जाते थे। अक्सर वह अपने घर होली के खिलाड़ियों और गवैयों को दावतें दिया करते थे। ऐसे अवसरों पर बहुत बड़ी भीड़ उनके यहां जमा हो जाती थी—क्योंकि होली-निमंत्रण लिखित रूप से विशिष्ट व्यक्तियों को दिए जाने की प्रथा के वह विरोधी थे। समूह के समूह को वह जबानी निमंत्रण दे दिया करते थे और सबको अच्छी तरह खिलाते-पिलाते थे। क्या मजाल कि एक भी व्यक्ति बिना खाए-पिए उनके यहां से चला जाए।

नारायण भैया केवल होली की मंडलियों के ही मुखिया नहीं थे, बल्कि सभी सामाजिक समारोहों के अवसर पर उन्हें संचालक अथवा प्रबन्धक अथवा नायक के रूप में पाया जाता था। साधारण अवसरों पर भी वह अपने चारों ओर एक अच्छा-खासा मजमा जोड़ लेते थे और तरह-तरह की विनोद भरी बातों और रोचक दृष्टांतों द्वारा लोगों को जीवन और जगत् के सम्बन्ध में उपदेश देते रहते थे। सारे शहर में ऐसा व्यक्ति दूसरा नहीं था जो प्रोलेतेरियन समाज में भी उतना ही जनप्रिय था जितना बूर्ज़ुवा समाज में जिसे बुड्ढे भी उतना ही मानते थे जितना बच्चे। मैं उनकी प्रत्येक कार्रवाई और प्रत्येक बातमें दिलचस्पी लेता था। इसका एक कारण यह अवश्य था कि वह, जैसाकि मैं बता चुका हूं, मेरे प्रति विशेष दयालु थे। उनके प्रति मेरी दिलचस्पी कभी तनिक भी कम न होती। बात-बात में वह विनोद-भरी बातों की ऐसी फुलझड़ियां छोड़ते रहते थे कि श्रोताओं के हास्य का तांता टूटता ही न था। पर उन फुलझड़ियों के साथ-साथ उनकी पटाखेबाज़ी भी खूब चलती थी। ऐसे व्यंग-भरे विस्फोट उनके मुंह से बीच-बीच में निकलते रहते थे जिनमें हास्य का पुट काफी रहता था। पर जिन-जिन व्यक्तियों को लक्ष्य करके व्यंग्य के वे पटाखे छोड़े जाते थे उनकी दयनीय दशा देखने ही योग्य होती थी। ज़्यादातर उनके पटाखों के लक्ष्य ऐसे व्यक्ति होते थे जो या तो समाज के शोषक या उसके भीतर पैठे हुए घुन होते थे। इसलिए ऐसे व्यक्तियों पर किए गए नारायण भैया के व्यंग्यात्मक विनोद पर सबको प्रसन्नता ही होती थी। यही कारण था कि बने हुए समाजपति उनसे बहुत कुढ़ते थे और डरते भी थे।

नारायण भैया जिस सरकारी पद पर काम करते थे उसमें तरक्की पाने पर वह अलमोड़े से किसी दूसरे स्थान में चले गए। वर्षों के अन्तर में वह कभी-कभी कुछ दिनों के लिए अलमोड़ा आ जाया करते थे, पर अलमोड़े के

जीवन से उनका सम्बन्ध एक प्रकार से छूट चुका था।

उसके बाद एक दिन अचानक मैंने सुना कि नारायण भैया ने नौकरी छोड़ दी है। इसका कारण यह बताया गया कि उनके मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो गया है, जिसका अर्थ सीधी-सादी भाषा में यह होता है कि वह पागल हो गए हैं। सुनकर मुझे जो धक्का पहुंचा उसका वर्णन नहीं हो सकता। पर उससे भी बड़ा धक्का तब पहुंचा जब मैंने अपनी आंखों से उनका वह तूफानी रूप देखा। उस दिन की याद मुझे अच्छी तरह है जब मैंने पहले-पहल उन्हें उस रूप में देखा। चार आदमी उनके हाथ पकड़कर उन्हें रोकने का प्रयत्न कर रहे थे, पर वह प्रबल धक्के से अपने को छुड़ाकर सड़क पर की छोटी-छोटी दीवारों को तोड़ने के कार्य में जुट जाते थे। उनके तूफानी झटके से कच्ची दीवारें ढहकर, चट्टानों के टूटने की-सी आवाज़ करती हुई ढलवा पहाड़ी ज़मीन पर तांडव-नर्तक त्र्यंबक के अट्टहास की तरह ठहाका मारती हुई, नीचे की ओर लुढ़कती चली जाती थीं। और उस जड़ अट्टहास के साथ नारायण भैया का चेतन अट्टहास मिलकर एक विकट भौतिक भीति की भावना से चारों ओर के अपेक्षाकृत शान्त वातावरण को कंपित कर देता था। उनके मुख पर अंकित उस समय का उन्मत्त उल्लास देखने ही योग्य था।

मैं आतंकित होने पर भी गंभीर भाव से सोचने लगा कि नारायण भैया पागल ही सही, पर वह उल्लास किसी साधारण पागल में पाया जाना संभव नहीं है। और फिर उनके पागलपन ने तोड़-फोड़ की उस विशेष प्रवृत्ति को ही क्यों अपनाया है? मस्तिष्क के विकार को प्रकट करने का और कोई दूसरा ढंग क्यों नहीं पकड़ा?

कुछ दिन बाद उन्हें बरेली के पागलखाने में भेज दिया गया। कुछ महीने पागलखाने की हवा खाने से भैया की नई प्रवृत्ति का तूफानी वेग थम गया। जब वह वहां से लौटकर अल्मोड़े आए तब उनका एक दूसरा ही रूप मैंने देखा। मैंने देखा कि उनकी प्रकृति के पुराने और नये रूपों के बीच जैसे एक समझौता हो गया है। उनकी विनोदी और व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति लौट आई थी, पर कुछ अजीब खामखयालियों के साथ। वह एक झाड़ू अपने साथ लिए रहते थे। रास्ते में चलते-चलते किसी मकान या दुकान के आगे सहसा झाड़ू देने लगते। रास्ते पर पड़े हुए पत्थरों अथवा रुकावट की दूसरी चीज़ों को उठाकर इधर-उधर फेंकते रहते थे। ऐसी फुर्ती से वह यह काम करते थे कि लगता था जैसे उनके द्वारा फेंका गया पत्थर, लकड़ी या टिन अगल-बगल में चलनेवाले किसी व्यक्ति पर जा लगेगा। इसकी तनिक भी परवा किए बिना ही वह अपना काम किए चले जा रहे हैं। पर कभी एक दिन के लिए भी

ऐसी घटना न देखी, न सुनी गई कि उनकी इस प्रकार की कार्रवाइयों से किसी व्यक्ति को चोट आई हो।

शहर के सब लोग उन्हें पहले भी जानते थे और अब तो नई पीढ़ी का प्रत्येक बच्चा भी उन्हें जानने लगा था। इसलिए जब वह तेज चाल से चलते हुए सहसा किसी मकान या दुकान में घुस जाते, तब न तो दुकानदार ही कोई आपत्ति करता था, न मकानवाला ही। कारण स्पष्ट ही यह था कि प्रकट में उनकी किसी भी खामख्याली का चाहे कोई भी रूप लोगों के सामने क्यों न आता हो, पर सब यह जान गए थे कि नारायण भैया कभी किसीको भी कोई क्षति किसी भी आर्थिक और नैतिक रूप से नहीं कर सकते। बल्कि जिस मकान या दुकान में वह पहुंच जाते उसके मालिक का मनोविनोद ही होता था। नारायण भैया अपने सारे पागलपन के बावजूद उन व्यक्तियों के इस मनोभाव को समझते थे, जिनके यहां वह सहसा धावा बोल देते थे और इसका पूरा लाभ भी उठाते थे। यदि किसी मोदी की दुकान में घुस जाते तो उसे और उसके ग्राहकों के बनियों के डंडी मारने के दिलचस्प किस्से तथा और भी बहुत-सी मीठी-कड़वी बातें सुनाकर उससे सेर-आध सेर आटा लेकर ही छोड़ते। वे सस्ती के दिन थे, एक सेर आटे का दाम छः पैसे से ज्यादा नहीं था। अतएव खलने पर भी इतना आटा दुकानदार उधार दे सकता था। यदि किसी जनरल मर्चेण्ट की दुकान में घुस जाते तो व्हाइटवे एण्ड लेडला कम्पनी के जन्म और विकास का इतिहास और उसकी दुकानों में ठगे जानेवाले ग्राहकों के सम्बन्ध में रोचक चुटकुले सुनाकर उनसे कुछ विस्कुट और चाकलेट लेकर ही पिंड छोड़ते थे। यदि किसी सुसंस्कृत (और साथ ही सुसम्पन्न) व्यक्ति के घर पर सहसा धावा बोलते तो उससे लैटिन साहित्य की बातें करने लगते। श्रोताओं के आश्चर्य की सीमा न रहती, जब वे एक माने हुए पागल को लैटिन भाषा के प्राचीन कवियों अथवा दार्शनिकों की मूल पंक्तियों को दुहराते और उनका अर्थ समझाते हुए पाते। और यह सब कुछ सुना चुकने के बाद अपनी 'टाक' का मूल्य—चाहे वह एक रुपया अथवा चार ही आना क्यों न हो—मांगना न भूलते। यदि किसी कंजूस धनपति के यहां जा पहुंचते तो उसे परलोक का भय दिखाने लगते। कहते—"मौत तुम्हारे सामने खड़ी है। सब समय इस बात को याद रखो कि इतना सब रुपया तुम गठरी बांधकर अपने साथ नहीं ले जा सकोगे। बोझ बड़ा भारी है और नदी में बाढ़ आई है और नाव तुम्हारी बहुत पुरानी है। इसलिए इसी पार इस बोझ को जितना कम कर सको उतना ही अच्छा है। और फिर परलोक में यम के दूत काले-काले भूतों की तरह दाढ़ निकाले, भालू के-से नाखूनों को आगे बढ़ाकर, जलते हुए अंगारों-सी आंखों को दहकाते

हुए तुम्हारी ओर देखेंगे और तुमसे पाप-पुण्य का लेखा-जोखा मांगेंगे, तब क्या उत्तर दोगे ? यही न कहोगे कि 'मैंने कौड़ी-कौड़ी के लिए गरीबों का खून चूसकर चमड़ी जाए पर दमड़ी न जाए की नीति का पालन किया और स्वयं अधपेट खाकर, दूसरों का भी पेट काटकर कन-कन करके मन जोड़ा है ! मेरे मरने के बाद मेरी गुप्त और प्रकट सम्पत्ति के रक्षक कौन यक्ष होंगे मैं नहीं जानता । मैंने केवल जोड़ना सीखा है और उन लोगों कीसहायता के लिए एक कौड़ी भी नहीं दी है जो सामाजिक और पारिवारिकसंघर्ष में अर्थाभाव से पिसे जा रहे थे । मैं महान संग्राहक हूं, इसलिए मुझे स्वर्ग प्राप्ति होनी चाहिए !' पर तुम्हें खबर नहीं है कि यमलोक वालों का दृष्टिकोण कुछ दूसरा ही होता है । जब अग्निकुंड में तुम्हें हवन के लिए ज़िन्दा छोड़ दिया जाएगा और खूब जलाने के बाद फिर ज़िन्दा ही निकाला जाएगा, तलवारों की धार के ऊपर तुम्हारा हाथ पकड़-पकड़ कर नंगे पांव चलने को विवश किया जाएगा, जेठ की लू से जलते हुए तांबे के सैकड़ों मील-व्यापी क्षेत्र में नंगे बदन घुटनों के बल चलाया जाएगा और साथ-साथ नंगे नितंब-प्रदेश पर बिच्छू-जातीय पौदे और कोड़ों की मार पड़ेगी, पीवकुंड में और सांपों, बिच्छुओं, केंचुओं और गोजरों से भरे गह्वर में तुम्हें ढकेला जाएगा, तब तुम्हारी वह खून से रंगी पूंजी कभी किसी काम नहीं आएगी । इसलिए लाओ, पांच रुपया तुरन्त मेरे हवाले करो ।"

मेरे सामने ही उन्होंने एक दिन एक कंजूस को इन शब्दों में लताड़ा था । मैं मानता हूं कि यह तर्कशैली घिसे-घिसाए ढंग की थी, पर इसका जो प्रभाव देखा गया उससे मैं चकित रह गया । जो कंजूस महाशय कभी एक पैसा भी बिना चौगुने लाभ की आशा से किसीको देने में प्रायः अपने प्राणों की बाज़ी लगा देते थे, वे इस भाषण से इस कदर आतंकित हो उठे कि उन्होंने नारायण भैया को एक रुपया दे डाला ! अंगूठे के नाखून से रुपये को दो-तीन बार उछालकर बजाने के बाद जब भैया को यह विश्वास हो गया कि मक्खीचूस महोदय ने चालाकी से उन्हें खोटा रुपया नहीं दिया है, और रुपया वास्तव में खरा है, तब वह बोले —"चलो भागते भूत की लंगोट ही सही । तुमसे इतना मिलने की आशा मैं नहीं करता था ।" और यह कहकर वह बड़ी फुर्ती से बाहर निकल गए ।

पर और एक दूसरे सज्जन थे जिनपर नारायण भैया की सारी कलाबाज़ी व्यर्थ सिद्ध हुई और सारे वार ऐसे विफल हुए जैसे चट्टान पर वर्षा की बूंदें । जब सब कुछ सुनने के बाद भी उस कंजूस वृद्ध ने, जिन्होंने स्वयं फटे हाल रहकर प्रायः बीस-बाईस लाख की सम्पत्ति जोड़ ली थी, नारायण भैया को चार से पाचवां पैसा देने से साफ इन्कार कर दिया, तब अन्त में खीझकर भैया बोले—"साले जोड़े जा और कुछ दे मत । अगले जन्म में अगर तू इर्ष्या-

रियल बैंक का चूहा बनकर पैदा न हुआ तो जितने की चाहे बाज़ी बद ले।"

वृद्ध महाशय बहुत कुछ सह चुके थे, पर इस अन्तिम कटूक्ति को न सह सके। एक गहरा छींटा कसते हुए बोले—"मेरी दुर्गति तो अगले जन्म में जब होगी तब होगी, पर तुम तो अपने कर्मों के फल से इसी जन्म में भंगी बने फिर रहे हो। जब देखो तब सड़कों और गली-कूंचों पर झाड़ू लगाते फिरते हो।"

यह एक बड़ी जबर्दस्त ललकार थी जिसपर चुप लगा जाना नारायण भैया के स्वभाव के व्यक्ति के लिए संभव नहीं था। अपनी ज़बान को सान पर चढ़ाकर उन्होंने कहा—"बेटा, तुम्हारी खोपड़ी में तो गोबर भरा है, तुम मुझे क्या समझ सकते हो? जानते हो मैं कौन हूं? मैं वह शख्स हूं जो अल्लाह मियां से बड़ा है और भंगी से छोटा। अपने दिमाग से गोबर निकाल-कर उसे ज़रा धो लो तब मुझसे बातें करना।"

पर भैया की खामख्याली केवल झाड़ू देने तक ही सीमित नहीं थी। एक और खब्त उनके सिर पर सवार थी। नींद उन्हें नहीं आती थी। सारी रात वह जागते रहते। इधर-उधर सड़कों और बाज़ारों का चक्कर लगाते हुए वह सूखी लकड़ियां, रद्दी कागज़ के टुकड़े आदि बटोरते रहते और फिर किसी मकान के नीचे उन्हें रखकर दियासलाई लगा दिया करते। खास-खास मकानों को ही वह अपना लक्ष्य बनाते थे, जिनमें उक्त कृपण का मकान भी एक था जिसने उन्हें कुछ देने से इन्कार कर दिया था। पर पता नहीं क्यों, उनकी लगाई हुई आग कभी अधिक नहीं भड़क पाती थी। दो-एक मिनट के लिए धधकने के बाद फिर फुसफुसाकर रह जाती थी।

अल्मोड़े में जिस मकान में मैं रहता था, वह कचहरी के किले के नीचे वाले बाज़ार की पत्थर से पटी हुई सड़क पर था। रात में जब चारों ओर सन्नाटा छा जाता और पुलिसवालों का गश्त भी समाप्त हो गया होता, तब अचानक नींद टूटने पर, कानों में किसीके इधर से उधर और उधर से इधर लोहे की नालवाले जूतों को पत्थर पर फटफटाते हुए, बड़ी तेज़ चाल में चलने —बल्कि दौड़ने की आवाज़ आती रहती और उसके साथ ही कुछ खटर-पटर का शब्द सुनाई पड़ता। दो-चार दिनों तक आलस्यवश यह सोचकर मैंने उस आवाज़ की उपेक्षा की कि कोई दुकानदार अपनी दुकान का सामान संभाल रहा होगा। पर जब बाद में आधी रात के बाद ठीक उसी प्रकार की खटर-पटर की आवाज़ सुनाई देती रही तो अपनी निद्रा में स्थायी व्याघात की आशंका से एक दिन मैं कपड़े पहनकर बाहर निकल पड़ा। तब आधी से भी अधिक रात बीत चुकी थी। बाहर जाकर बाज़ार की छोटी-सी दीवार के ऊपर मैं बैठ गया—यह जानने के लिए खटर-पटर करनेवाला व्यक्ति कौन है और किस उद्देश्य से ऐसा कर रहा है। सफेद बादलों से चन्द्रमा का जो प्रकाश आ

रहा था उसके सहारे मैंने देखा, नारायण भैया इधर-उधर से तिनके बटोर कर एक दुकान के नीचे जमा करते चले जा रहे हैं। वह कपड़ों की दुकान थी, जिसका मालिक भोले-भाले देहातियों से प्रायः दुगुने मूल्य के कपड़े बेचने का व्यापार करके मालदार बन गया था। मेरा मन कुछ शंकित हुआ। पर मैं उस विषय पर कुछ बोला नहीं। सहज भाव से मैंने कहा—"नमस्कार, नारायण भैया!"

ठीक से पहचानने के उद्देश्य से नारायण भैया मेरे निकट चले आए और देखते ही बोले—"ओह, तुम हो! यहां क्यों बैठे हो?"

"मैं ठीक यही प्रश्न आपसे करना चाहता था। आप बताइए किस जुगत में लगे हुए हैं?"

"हं-हं-हं-हं-हं! यों ही कुछ बच्चों का खेल चल रहा है।" कहकर भैया दांत निपोरने लगे।

"आज किसकी शामत आई है? इस कपड़े वाले से आप इस कदर नाराज़ क्यों हैं?"

"हं-हं-हं-हं-हं! साला बड़ा चोट्टा है।"

"पर क्या सचमुच तुम उसकी दुकान जला ही डालोगे?" मैंने आतंकित होकर कहा।

"कोशिश तो ज़रूर करूंगा। अपनी ओर से तो मैं नहीं चूकूंगा। बाकी रहा उसका भाग्य। हं-हं-हं-हं-हं!" मेरे साथ भैया अपनी तत्कालीन दिमागी हालत में भी बराबर प्रेमभाव से मुस्कराकर ही बातें करते थे।

"पर उसकी दुकान जलने से अगल-बगल की दुकानों में भी अवश्य ही आग लग जाएगी, और फिर मेरा मकान भी तो बगल में है। हम लोगों ने आपका क्या बिगाड़ा है?"

अबकी भैया कुछ तमक उठे। धीरे से डांटते हुए बोले—"तुम हो मूर्ख, समझते कुछ नहीं! अरे, पहले कपड़ों में आग लग तो जाए। उसीमें आग पकड़ने में अभी पूरा दो घंटा समय लग जाएगा। साले की दुकान सील से तर है। सारे कपड़े सील खाए हुए हैं। धीरे-धीरे आग सुलगेगी। उसके बाद दुकान के ऊपर का मकान धीरे-धीरे जलेगा और तब अगल-बगल के मकानों और दुकानों तक आग पहुंच सकेगी! तुम्हारे मकान तक पहुंचते-पहुंचते सुबह हो जाएगी। इसलिए तुम्हें अभी से इस कदर घबराने की आवश्यकता क्या है?"

बादलों से घिरे हुए चांद के धुंधले प्रकाश में मैंने अपनी दृष्टि-शक्ति को पूर्णतया केन्द्रित करके यह जानने का प्रयत्न किया कि नारायण भैया परिहास में यह सब कह रहे हैं या पूरी गंभीरता के साथ। उनके मुख पर एक स्थिर

निश्चित भाव की छाया देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए।

पहले से भी अधिक घबराई हुई आवाज़ में मैंने कहा—"भैया, तुम सच-मुच यहां पर आग लगाने पर तुले हुए हो ?"

भैया तमककर बोले—"मैं तुमसे इन बातों पर बहस करने के लिए कतई तैयार नहीं हूं। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम घर जाकर चुपचाप सो जाने के बजाय यहां क्यों बैठे हो।" और उसके बाद मेरे उत्तर की तनिक भी प्रतीक्षा न करके उन्होंने तिनके, कागज़, चैलियां आदि चीज़ों को बटोरने का काम शुरू कर दिया। इधर-उधर से बटोरकर उन्हें वह ठीक उसी कपड़े की दुकान के आगे जमा करते चले गए। मैं ऐसा जड़ बन गया था कि उनकी उस भयंकर तैयारी में रुकावट डालने की इच्छा रहने पर भी सक्रिय विरोध की तनिक भी शक्ति जैसे मुझमें नहीं रह गई थी। मैं वहीं बैठा-बैठा स्तब्ध दृष्टि से उनकी कारसाज़ी देखता रहा—इस प्रतीक्षा में कि कब वह आग लगावें। कहीं मेरे भीतर भी आदिम काल की कोई अज्ञात प्रवृत्ति उस आगज़नी में सहयोग देने के लिए उत्सुक तो नहीं थी ?—भले ही उसका परिणाम मेरे लिए भी घातक हो। मैं कह नहीं सकता।

बैठे-बैठे मुझे बहुत देर हो गई, पर आग जलाए जाने के कोई लक्षण मुझे नहीं दिखाई दिए। एक-आध बार भैया ने दियासलाई जलाई। मेरा कलेजा उत्कण्ठा अथवा उत्सुकता से धड़क, शायद फड़क उठा। पर जब मैंने देखा कि भैया उससे बीड़ी जलाने लगे हैं तब मेरी निराशा का कोई ठिकाना नहीं रहा। हम दोनों मौन थे। भैया का बिगड़ा हुआ 'मूड' देखकर मुझे उनसे कुछ कहने का साहस नहीं होता था, और वहां से मैं उठ भी नहीं पाता था—यह सोचकर कि पीछे वह न मालूम क्या काण्ड कर बैठें।

इतनी देर तक मुझे अपने स्थान पर डटा हुआ देखकर भैया का दबा हुआ क्रोध भड़क उठा। मेरे पास आकर झल्लाकर बोले—"क्या अब सचमुच यहां से नहीं हटोगे ? रात-भर यहीं बैठे रहोगे ? बड़े अवारा हो गए हो जी तुम ! मुझे तुम्हारे घरवालों से शिकायत करनी पड़ेगी।"

मैंने कहा—"आप मुझे अच्छी सलाह दे रहे हैं। आप मेरे पड़ोसियों के और मेरे घर में आग लगाने पर आमादा हैं और मुझसे चले जाने को कहते हैं ! जब तक आप यहां से नहीं चले जाते तब तक मैं यहां से कैसे हट सकता हूं ?"

"अच्छी बात है।" बड़बड़ाते हुए भैया बोले—"तुम बैठे रहो, मुझे तुम्हारा डर नहीं है। लो, मैं आग लगाता हूं। तुम्हें जो कुछ करना हो कर लना।" और यह कहकर वह सचमुच कूड़े के उस ढेर के पास चले गए जिसे उन्होंने आग लगाने के लिए बटोर रखा था। मैं सशंकित होकर उठा और

घटनास्थल के पास ही जाकर खड़ा हो गया। भैया ने दियासलाई जलाना आरम्भ किया। पहली दियासलाई बिना जले ही टूट गई। उसे उन्होंने फेंक दिया। दूसरी दियासलाई जलाकर उन्होंने कागज़ के एक टुकड़े पर उसे लगाया। पर शायद कागज़ का टुकड़ा कुछ गीला था, उसमें एक सेकेंड के लिए आग लगकर तत्काल बुझ गई। उन्होंने तीसरी दियासलाई जलाई। उसे कागज़ के टुकड़े पर लगाया। वह टुकड़ा आग पकड़ गया। उसके साथ सूखे हुए तिनके भी जलने लगे। पर उन तिनकों से आगे वह आग नहीं बढ़ पाई। तिनके जलकर राख हो गए और आग फिर बुझ गई। भैया ने दांत पीसते हुए "डैम इट!" कहकर ज़ोर से एक ठोकर उस बटोरे हुए कूड़े पर मारी और उसे चारोंओर बिखेर दिया। उसके बाद मेरी ओर मुखातिब होकर बड़े कड़े स्वर में बोले—"तुम्हारी वजह से आज मेरा रात का सारा शगल चौपट हो गया। खैर, कोई बात नहीं, मैं फिर देख लूंगा।" और वह पास ही पड़ा हुआ लकड़ी का एक टुकड़ा उठाकर अपनी स्वाभाविक तेज़ चाल से चल दिए।

नारायण भैया के क्रिया-कलापों को बहुत निरखने-परखने पर भी मैं इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुंच पाता था कि उनके 'पागल-पन' में वास्तविकता की मात्रा कितनी है और कृत्रिमता की कितनी। शहर के प्रायः सभी लोग उनके नाम के आगे 'पागल' उपनाम अनिवार्यतः जोड़ने के आदी थे और उनमें से अधिकांश व्यक्ति यह विश्वास भी करते थे कि वे पूरे पागल हैं। पर मैंने उनके पूरे पागल होने की बात तो कभी सोची ही नहीं, बल्कि मुझे बीच-बीच में यह सन्देह होने लगता था कि वह अंशतः भी पागल हैं या नहीं। उनकी प्रत्येक गतिविधि से मुझे सन्देह होने लगता था कि वह जान-बूझकर अपने वास्तविक व्यक्तित्व के ऊपर पागलपन का कृत्रिम आवरण डाले हुए हैं। पर जानबूझकर पागल बनने के मूल में भी तो कोई कारण होना चाहिए। तब वह कारण क्या हो सकता है? उसका पता लगाने के लिए मैं बहुत दिनों से उत्सुक हो रहा था।

अन्त में एक दिन मुझे अपनी उस उत्सुकता के निवारण का मौका मिल ही गया। उस दिन शाम को भैया सहसा मेरे बैठक वाले कमरे में घुस आए। मैं अकेला बैठा हुआ मन की अपेक्षाकृत एकांत स्थिति में कुछ लिख रहा था।

नारायण भैया आते ही सहज भाव से मुस्कुराते हुए बोले, "क्या लिख रहे हो—कोई लेख?"

उस समय उनके मुख पर वही सहज प्रसन्नता और शान्त स्निग्धता छाई हुई थी जो मुझे बचपन के दिनों में उनके विनोदप्रिय और साथ ही

संवेदनशील स्वभाव की याद दिलाती थी।

मैंने लिखना छोड़कर उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"यों ही कलम घसीट रहा था।"

"कहां छपाओगे ? 'शक्ति' में ? जैसे ही निठल्ले तुम आजकल के नये लेखक हो वैसा ही निकम्मा पत्र तुम अल्मोड़े वालों को मिला है।"

मैंने विनम्र भाव से कहा—"जी नहीं, मैं अगर छपाऊंगा तो बाहर की किसी पत्रिका में।"

"पर क्या तुम यह विश्वास किए बैठे हो कि बाहर के पत्र तुम्हारा लेख छाप देंगे ?" अरे 'शक्ति' तुम्हारे घर की मुर्गी है, उसे तुम चाहे जैसे भी कूड़े-कचरे से भर दो। पर बाहर के पत्र ? कभी संभव नहीं है।" और वह मेरे आगे फर्श पर पालथी मारकर बैठ गए।

मैं उस विषय को टालते हुए असली विषय पर आया। बोला—"कहिए, आज आपने कैसे कृपा की ?"

"तुम्हारी जेब में कुछ पैसे हैं ? निकालो।"

"पहले आप बताइए कि आपको कितने पैसों की ज़रूरत है। उतना मेरी जेब में होगा तो निकालूंगा, नहीं तो..."

"नहीं तो का सवाल ही नहीं है, कुछ न कुछ तो तुम्हारी जेब में अवश्य ही होगा। मुझे इस समय दो रुपये चाहिए। यदि इतना हो तो दे दो, नहीं तो जितना हो उतना ही निकालो।"

यह जानकर कि कोई भी बहानेबाज़ी किसी काम न आएगी, मैंने चुपचाप दो रुपये निकालकर दे दिए।

रुपयों को बड़ी फुर्ती से कोट की भीतरी जेब में रखते हुए उन्होंने कहा, "अब खाने की जो कुछ चीज़ तुम्हारे पास हो दो। बड़ी भूख लगी है।"

मैंने हंसकर कहा—"आप रुपया भी लेंगे और खाना भी ? जब खाना ही आपको मांगना था तब रुपया मांगने की क्या ज़रूरत थी ?"

वह तमककर बोले—"तुम अजीब नासमझ आदमी हो ! रुपये और खाने से क्या सम्बन्ध ? तुम क्या समझते हो कि जो रुपया मैं लोगों से मांगता हूं वह सब अपने खाने के लिए ? ऐसे गधे शिकारपुर में रहते होंगे ! मैं जहां भी जाऊं, मुझे आसानी से खाना मिल जाता है। पर मेरे घरवाले कहां-कहां मांगते फिरेंगे ? इसलिए मैं दिन-भर की दौड़-धूप के बाद जितना कुछ भी पैसा इकट्ठा कर पाता हूं उसे चुपचाप घरवालों को जाकर दे देता हूं। मेरी नौकरी छूट चुकी है। अगर मैं घर-घर जाकर लोगों को डरा-धमकाकर रुपये न मांगूं तो मेरे घर के लोगों की गुज़र कैसे हो ? लाओ खाना !"

मैंने देखा कि जिसे लोग पागल समझे बैठे हैं वह सांसारिक बुद्धि में सबके

कान काटने जा रहा है। मैं भीतर गया और घर में रखी हुई जितनी कुछ भी खाने की चीज़ें बटोर पाया, बाहर ले आया। नारायण भैया को ऐसी उतावली पड़ी हुई थी कि उन्होंने थाली मेरे हाथ से प्रायः छीन ली और बिना किसी भूमिका के गपागप खाना शुरू कर दिया। पास ही सुराही से शीशे के गिलास में पानी भरकर मैंने उनके आगे रख दिया। दो या तीन मिनट के भीतर सब कुछ चट करके उन्होंने एक घूंट पानी पिया और उसीसे हाथ धोकर मेरी बगल में एक तकिये के ऊपर आराम से बैठ गए। मैंने एक सिगरेट निकालकर उन्हें दी। जब उसे जलाकर धुआं निकालने लगे, तब मैंने अच्छा मौका जान-कर पूछा :

"अच्छा भैया, एक बात! बिना किसी दुराव के अपने मन की सही-सही बातें मुझे बता दीजिए। सबसे पहले आप यह बतलाइए कि आप क्या सचमुच में पागल हैं जैसाकि लोग कहते हैं, या जान-बूझकर पागल बने हुए हैं?"

इस बार भैया मुस्कुराए। वह ऐसी सहज-स्निग्ध मुस्कान थी जो कभी किसी पूरे या आधे पागल के चेहरे पर खिल ही नहीं सकती। बहुत ही कोमल स्वर में उन्होंने पूछा—"तुम्हारा क्या ख्याल है?"

"मुझे विश्वास नहीं होता कि आप सचमुच में पागल हैं।"

"तब यही मान लो कि मैं बना हुआ हूं।" अबकी बार उनकी मुस्कान में रहस्यमयता का एक पुट आ गया।

"पर इस 'बनने' का कारण क्या हो सकता है? यह रूप धारण करने की इच्छा आपके मन में कैसे और क्यों उत्पन्न हुई, मैं यह जानने के लिए बहुत उत्सुक हूं।"

भैया तकिये का सहारा छोड़कर पालथी मारकर सीधे बैठ गए। उसके बाद अत्यन्त गम्भीर भाव से बोले—"जानते हो, अगर मैं जान-बूझकर पागल का रूप धारण न करूं तो सचमुच पागल बन जाऊं। तुम लेखक हो, तुमसे असली रहस्य छिपाना व्यर्थ है। मैं मुक्त स्वभाव का आदमी हूं, और छुटपन ही से किसी भी प्रकार के बंधन में बंधने का आदी नहीं रहा हूं। पर बंधनों से मुक्त रहने की इच्छा होने ही से आदमी मुक्त नहीं हो जाता। कुछ भाग्य-शालियों को छोड़कर सभीको सांसारिक बंधन बरबस जकड लेते हैं। बल्कि मैंने तो यह देखा है कि जो व्यक्ति जितना अधिक बन्धनों से भागना चाहता है उसे सांसारिक बंधन उतना ही अधिक जकड़ लेते हैं। मेरे साथ भी यही किस्सा हुआ। गृहस्थी के बन्धनों में मैं इस हद तक बंध गया कि स्वतन्त्र इच्छा नाम की कोई चीज ही मेरे लिए न रही। गृहस्थी के बंधनों को स्वीकार करने के लिए बाध्य होने के कारण ही मुझे नौकरी का बन्धन भी स्वीकार करना

पड़ा । इन दोनों पाटों के वीच मैं ऐसा पिसता चला गया कि उबरने का कोई रास्ता ही मुझे नहीं दिखाई दिया । मैं चाहता था कि मैं एकदम स्वतन्त्र, सभी प्रकार के उत्तरदायित्वों से परिपूर्ण रूप से मुक्त होकर नाचूं, गाऊं, हंसूं, खेलूं । पर उन वंधनों के कारण मुझे रोने तक की फुर्सत नहीं मिलती थी, हंसना तो दूर की बात थी ।

"फिर भी मैंने ज़िन्दगी के कई वर्ष उन्हीं वंधनों के जुए के नीचे कोल्हू के वैल की तरह पिसते हुए, ऊपरी उदासीनता के साथ विता दिए । मेरे भीतर क्या वीत रही थी, इसकी कोई खबर मैंने दुनिया को न लगने दी । क्योंकि मैं जानता था कि अगर मैं अपने मन का रोना किसीके आगे रोऊं तो निश्चय ही मुझे पागल समझकर लोग मेरी हंसी उड़ाने लगेंगे । जग-हंसाई से मैं बहुत डरता था, यह मेरी सबसे बड़ी कमजोरी थी । पर मेरे मन के साथ ही मेरा शरीर भी पिसता चला जा रहा था । जीवन की उस एकरसता के दलदल से मैं मन की गाड़ी किसी न किसी प्रकार से ठेलता चला जाता, पर शरीर की गाड़ी ने आगे बढ़ने से एकदम इन्कार कर दिया । मुझे कुछ ऐसे रोग लग गए, जिनके कारण मेरे लिए दफ्तर का काम करना असम्भव हो गया । यदि मैं लगातार दो घण्टे बैठकर काम करता तो मुझे चक्कर आने लगता । एक दिन मैं दफ्तर से घर पहुंचा तो मुझे ऐसा लगा कि मेरे सिर की नसें फटने ही वाली हैं और हृदय की धड़कन भी, जो बहुत बढ़ गई थी, कहीं बंद न हो जाए ।

"किसी तरह उस दिन का वह संकट टल गया । पर उससे मेरे मन के भीतर एक बहुत वड़ा परिवर्तन आ गया । जिस जगहंसाई से मैं बुरी तरह डरता था उसका कोई भी डर अब मेरे मन में न रहा और मैंने निश्चय कर लिया कि मैं नौकरी छोड़कर निर्द्वन्द्व जीवन विताऊंगा । क्योंकि मैं तभी जी सकता था और सचमुच का पागल होने से बच सकता था । मैंने एक बहाना ढूंढ़ा और पागलों का रूप धारण कर लिया । इसी सिलसिले में मैं एक बात तुम्हें बता दूं । जो लोग पागलों का रूप जानबूझकर धारण करते हैं वे एक प्रकार से सचमुच पागल ही होते हैं । वे अपने मन के असाधारण संसार में विचरण करते हुए, सांसारिक विषयों पर असाधारण दृष्टिकोण से विचार करते हैं । हैमलेट इसका उदाहरण है । वह यद्यपि सचमुच में पागल नहीं था, बल्कि पागल का स्वांग रचकर दुनिया के रंग-ढंग जानना चाहता था, पर सभी विषयों पर उसका दृष्टिकोण ऐसा निराला था कि यह कहना होगा कि बौद्धिक स्तर में वह पागलों की ही तरह मन की विचित्र उड़ानें भरा करता था । पर हम इस समय बातें कर रहे हैं उन पागलों की जो अपने सचेत और अचेत मन के वीच का कोई भेद नहीं जानते और जिनके कार्य-कलापों में कोई

संगति और कोई 'मेथड' नहीं होता। ऐसा पागल मैं कभी नहीं रहा। पर ऐसे पागलों का मुखौटा मैंने अवश्य धारण कर लिया। मैंने तोड़फोड़ और मार-पीट का ढंग किसी हद तक अख्तियार कर लिया, जिससे लोगों के मन में मेरे पूरे पागल होने का विश्वास जम जाए। हुआ भी ऐसा ही। जब मैं 'पागलपन' की अवस्था में नौकरी छोड़कर घर आया तब वहां मुझे अपना वही उत्कट रूप दिखाने की ज़रूरत आ पड़ी—इसलिए कि मैं चाहता था कि मेरे घर के लोग भविष्य में मुझसे किसी प्रकार की कोई आशा न रखें।

"अन्त में मेरे सभी हितैषियों ने मिलकर मुझे पागलखाने भेज दिया। मैंने इस दंड को जानबूझकर इसलिए स्वीकार कर लिया कि मेरे हितैषियों के मन में यह धारणा पक्की तरह जम जाए कि मैं वास्तव में पागल ही हूं, अब किसी काम के योग्य नहीं रह गया हूं। जितने महीने भी मैंने पागलखाने में बिताए, बिताए बड़े मौज से रहकर। दूसरे सभी पागलों को और पागलखाने के अधिकारियों को भी हंसाता रहा।

"पागलखाने से बाहर निकलने पर मैं अपने निजी ढंग से एक नये 'मेथड' के अनुसार जीवन बिताने लगा। वह 'मेथड' क्या था, तुमसे छिपा नहीं है। अपनी गतिविधि में पागलपन का एक हल्का-सा बाहरी पुट देकर सब बातों में संगति कायम कर रखी है। घरवालों की गुज़र-बसर का ध्यान मुझे अब भी है। इसलिए मैं अपने 'पागलपन' के बावजूद उन्हें कभी भूखों नहीं मरने देता। जो भी काम मैं करता हूं या जो-जो भी बात किसी आदमी से करता हूं वह जानबूझकर किसी न किसी उद्देश्य को सामने रखकर ही करता हूं। मैं अब प्रसन्न हूं और पूर्णतया सुखी हूं। इसका कारण यह है कि दुनिया के बीच में रहते हुए भी सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त हूं। जगहंसाई का कोई डर न रह जाने से मैं अपनी खामखयालियों के अनुसार कार्य करने को स्वतंत्र हूं। खामखयालियां सभी आदमियों के भीतर होती हैं, पर जगहंसाई के डर से लोग भरसक उन्हें दबाए रहते हैं और बाहर से शिष्ट और नियमबद्ध रहने का ढोंग रचते हैं। पर मैं चूंकि उस भावना पर विजय पा चुका हूं, इसलिए अपनी खामखयालियों को दबाए रखने का कोई कारण मेरे लिए नहीं रह गया है। घरवालों की गुज़र के लिए मैं जो पैसा इकट्ठा करता हूं, वह केवल कर्तव्य समझकर, किसी पारिवारिक मोह के कारण नहीं। इसके अतिरिक्त पागलपन को अपनाने से एक और लाभ मुझे हुआ है। वह यह कि अब मैं पागलपन की आड़ में उन दुष्टों, बदमाशों, समाज की छाती पर घुन की तरह घुसे हुए और जोंक की तरह चिपके हुए बेईमानों को खुलकर गालियां दे सकता हूं, जिनसे अपनी 'सभ्य' और 'शिष्ट' अवस्था में मन ही मन बहुत जलता था, पर झूठे शिष्टाचारवश कुछ कह नहीं पाता था।"

पागलपन की सफाई में उस विचित्र पागल का तर्कपूर्ण भाषण सुनकर मैं स्तब्ध था। कुछ देर तक मैं विमूढ़ भाव से भैया की उस समय की गंभीर और अपेक्षाकृत शांत मुखमुद्रा देखता रहा। सहसा मुझे उस रात की याद आई जब वह कपड़े की दुकान पर आग लगाने के प्रयत्न में जुटे हुए थे। मैंने कहा—"आपकी बातें मेरी समझ में आ गईं, पर एक बात मैं नहीं समझ पाया। आपने अभी बताया कि आपके प्रत्येक कार्य में एक संगति और 'मेथड' रहता है और आप जो भी काम करते हैं, वह किसी न किसी उद्देश्य को सामने रख-कर ही करते हैं। तब बताइए कि आप समय-समय पर जो किसी न किसी स्थान में आग लगाने के प्रयत्न में जुटे रहते हैं, उसके पीछे क्या उद्देश्य हो सकता है? कभी आपने सचमुच में किसी मकान या दुकान में आग लगा दी हो, इसका एक भी उदाहरण मेरे सामने नहीं है। तब इस खिलवाड़ में आपको क्या दिलचस्पी रहती है? आप किसीको दिखाने के लिए यह काम करते हों, ऐसा भी नहीं है। आप रात में एकान्त पाकर सबकी नज़रें बचाकर ही ऐसा करते हैं। उस रात जब मैंने आपको इस तरह के काम में जुटा हुआ देख लिया तो आप बहुत बेचैन हो उठे थे और आपने इस बात की पूरी कोशिश की थी कि मैं उठकर चला जाऊं। तब आपकी इस प्रवृत्ति में क्या रहस्य छिपा है?"

नारायण भैया के मुख पर एक बार वही सहज-सरल मुस्कान छा गई जो मेरे पहले प्रश्न के उत्तर के रूप में खिल उठी थी। बड़े ही भोले भाव से बोले—"यह तुमने सचमुच मेरे स्वभाव की एक ऐसी कमज़ोर पकड़ी है जिसकी कोई तगड़ी सफाई मेरे पास नहीं है। मैं इसे भी अपनी एक खामखयाली कहकर टाल सकता हूं। पर यह—और केवल यही एक खामखयाली ऐसी है जो असली पागलपन के बहुत कुछ निकट है, इसीलिए मैं इसे भरसक छिपाने की चेष्टा करता हूं। और एक दृष्टि से अगर देखा जाए तो मेरी यह छिपाने की प्रवृत्ति ही बताती है कि मैं सचमुच का पागल नहीं हूं। बहरहाल, यह मानना ही पड़ेगा कि मुझमें यह कमज़ोरी है। वैसे मैं तुम्हें बता दूं कि मैं जानता हूं कि मेरे भीतर इस खामखयाली के मूल में क्या बात है। मैं स्वभाव से ही विद्रोही प्रकृति का आदमी रहा हूं। समाज के भीतर किसी भी प्रकार का भ्रष्टाचार या शोषण देखकर मेरे सिर में बराबर दर्द उठता रहता है। पर साथ ही मेरे स्वभाव में एक दूसरी भी विशेषता है। मैं चाहे किसीसे कितना ही रुष्ट क्यों न होऊं पर कभी किसीको सक्रिय रूप में कोई भौतिक हानि पहुंचाने में मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है। मेरे भीतर की कोई चीज़ मुझे इस हद तक जाने से बराबर रोकती रही है। इसलिए मेरा विद्रोह काल्पनिक रूप धारण करके रह जाता है और मन की बात मन ही में टकराकर बिखर

जाती है। आग लगाने की जो प्रवृत्ति इधर मेरे भीतर जग उठी है वह शायद उसी विद्रोह की काल्पनिकता का बाहरी प्रतीक है। और यही मेरा पागलपन भी है, क्योंकि इसकी कोई सार्थकता नहीं है। यदि मैं सचमुच में किसी इच्छित स्थान पर आग धधकी पाता तो मैं उसे पागलपन न मानता। पर मैं आग से केवल खेलता रहता हूं, आग लगा नहीं पाता। यह है मेरा 'इण्टरप्रेटेशन'। अब तुम्हारी खुशी, तुम चाहे इसका जैसा भी अर्थ लगाओ।"

उस दिन पहली और अन्तिम बार उस असाधारण पागल ने अपने बाहरी रूप का नकाब उतारकर अत्यन्त गम्भीर विवेचनापूर्ण ढंग से एकांत भाव से बातें कीं। उसके दूसरे ही दिन मैंने नारायण भैया का फिर वही तूफानी रवैया देखा। मेरे साथ वही डांट-डपट का व्यवहार शुरू हो गया। मैं लाख चेष्टा करता रह गया कि वह फिर मेरे पास एकांत में बैठकर उसी गम्भीरता और विवेचना से बातें करें, पर मेरी कोई भी योजना इस सम्बन्ध में सफल न हो सकी।

●●●